हिन्दू-धर्म प्रवेशिका

प्रकाशक—

बैजनाथ केडिया

हिन्दी पुस्तक एजेन्सी

२०३, हरिसन रोड,

कलकत्ता ।

शाखा—

ज्ञानवापी काशी

द्वितीय वार १००००] सम्वत् १९८५ [मूल्य ।)

प्रकाशक—
बैजनाथ केडिया
प्रोप्राइटर—
हिन्दी पुस्तक एजेंसी
२०३, हरिसन रोड,
कलकत्ता ।

मुद्रक—
जगदीशनारायण तिवारी
वणिक् प्रेस, १ सरकार लेन,
कलकत्ता ।

प्रकाशकका निवेदन।

आजकल देखा जाता है कि बहुतसे हिन्दुओंको अपने धर्मकी बातोंका कुछ भी ज्ञान नहीं है। इसका कारण धार्मिक शिक्षा और उपदेशका अभाव है। इसे दूर करनेके अभिप्रायसे यह पुस्तक हमने हिन्दू-महासभाके विशिष्ट सज्जनोंके आग्रहसे प्रकाशित की है। इसका मुख्य आधार तो काशी हिन्दू-विश्वविद्यालयके मुख्याधिष्ठाता पं० आनन्द शङ्कर बापूभाई ध्रुवकी हिन्दू-धर्मकी बालपोथी ही है, पर अन्यत्रसे भी बहुतसी बातें लेकर इसमें जोड़ी गयी हैं। आशा है इससे बड़ी भारी त्रुटिकी पूर्त्ति होगी, क्योंकि धार्मिक ज्ञानके अभावके कारण ही हिन्दू-जाति छिन्नभिन्न होती चली जा रही है। और यह इसी उद्देश्यसे छापी गई है कि जिसमें यह पुस्तक सर्वसाधारणके पासतक पहुंच सके, इसीलिये इसका मूल्य भी लागतमात्र ही रखा गया है। आशा है कि सर्वसाधारण हिन्दुओंमें इस पुस्तकके प्रचारसे हिन्दू-संगठनमें, जिसके समानाधार संक्षेपसे नीचे दिये जाते हैं, बड़ी सहायता मिलेगी।

समान जाति

सभी मनुष्य जो एक जातिके हैं वे इस जातिके नाममें संगठित हो सकते हैं। हिन्दू-जनताके संगठनके लिये यह आधार है। सभी हिन्दू, चाहे बौद्ध हों, सिक्ख हों, जैन हों, आर्य्यसमाजी हों, सनातनी हों एक जातिके मनुष्य हैं। सबका जन्मस्थान हिन्दुस्थान है। सभीके पूर्वज एक हैं। इनमेंसे कोई बाहरसे नहीं आया है

और किसीकी वंश-परम्परा विदेशी नहीं है। "महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा" से लेकर हरिश्चन्द्र और राम, श्रीकृष्ण और गौतमबुद्ध, श्रीऋषभाचार्य्य और श्रीशङ्कराचार्य्य, श्रीरामानुजाचार्य्य और श्रीनानक देव, विक्रमादित्य और शालिवाहन, शिवाजी और गुरुगोविन्द आदि सभी हिन्दू थे और सब हिन्दू उनको अपना पूर्वज मानते हैं। इस प्रकार सबकी एक जाति और इसकी रक्षाके लिये सब एक हो सकते हैं। सङ्गठनका दूसरा आधार है।

समान धर्म।

हिन्दू-जातिका समान धर्म है और वही हिन्दू-धर्म है। हिन्दुओं-में इस समय कई साम्प्रदायिक धर्म हैं, पर सबके सिद्धान्त एक हैं। जिन्हें हम आज साम्प्रदायिक धर्म समझते हैं वास्तवमें हिन्दू-धर्मसे स्वतन्त्र वे कोई भिन्न धर्म नहीं हैं। जिन महापुरुषोंके नाम-पर ये साम्प्रदायिक धर्म चले हैं उन्होंने स्वयं कोई अलग अपना धर्म चलाना नहीं चाहा था। हिन्दू-धर्मके जो सर्वमान्य सिद्धान्त हैं और उनके अनुकूल जो आचरण हैं वह जब जब दूषित हुए हैं तब तब महात्माओंने अवतीर्ण हो उन्हें सुधारा है और अपने युगके अनु-सार हिन्दुओंके एक वा अधिक सिद्धान्तोंपर अधिक जोर दिया है। इसका प्रमाण यही है कि हिन्दूधर्मके आज जितने भी सम्प्र-दाय हैं उनके सिद्धान्तोंमें विरोध नहीं है। हिन्दुओंमें तीन चौथाई सनातनियोंकी संख्या है और सबका धर्म हर प्रकारसे एक है, इसमें तो कोई सन्देह नहीं कर सकता। आर्य-समाजियोंका धर्म भी वही है जो सनातनियोंका, इसे स्वयं आर्य्य-समाजी भी मानते दोनोंका धर्म वैदिक धर्म है। अब रह गये जैनी और बौद्ध।

साधारणतः यह धारणा है कि ये दोनों धर्म अवैदिक हैं, अतएव ये हिन्दू-धर्मसे भिन्न हैं। पर वास्तवमें यह भूल है। यह इन धर्मोंके उन्नतिकालकी अवस्था जानने और उनके धार्म्मिक ग्रन्थोंके पढ़नेसे ही मालूम हो जायगा कि उनके धार्म्मिक सिद्धान्त भी वे ही हैं जो वैदिक हिन्दुओंके। वेदने "अहिंसा परमोधर्मः" माना है। इनका भी अहिंसा परम धर्म है। फिर इनका धर्म वेदविरुद्ध कैसे कहा जा सकता है ? सच बात तो यह है कि इन्होंने वेदोंकी निन्दा नहीं की थी। वेदके नाममें जो अधर्म हो रहा था उसकी निन्दा की थी। बुद्धको सभी हिन्दू अवतार मानते हैं। परम कृष्ण-भक्त जयदेवने भक्तिपूर्ण मधुर रागमें गाया है—

निन्दसि यज्ञविधेरहह श्रुतिजातम्।
सदय—हृदय—दर्शित पशुघातम्॥
केशव धृत बुद्ध शरीर, जय जगदीश हरे॥

सभी हिन्दू बुद्धकी भक्ति इसी प्रकार करते हैं। बुद्धने वेदाज्ञाके बहाने होनेवाली पशुहत्या और अन्य धार्मिक अंधेरोंकी निन्दा की थी, वेदकी नहीं, वेदधर्मकी नहीं। बौद्ध-धर्म हिन्दूधर्मसे भिन्न नहीं है। इसके बाद सिक्ख-धर्म है। आज यह हिन्दू-धर्मसे अलग समझा जाता है, पर इसकी उत्पत्ति हिन्दूधर्मकी रक्षाके लिये ही हुई थी। खालसाके स्थापक गुरु गोविन्दसिंहकी,

सकल जगतमें खालसा पंथ गाजे।
बढ़े धर्म हिन्दू सकल भंड भाजे॥

वाणी सिक्ख-सम्प्रदायका उद्देश्य बतलानेके लिये पर्य्याप्त है। इस प्रकार यह प्रत्यक्ष है कि किसी धर्म्माचार्य्यकी इच्छा अलग स्थायी

सम्प्रदाय स्थापित करनेकी नहीं थी, सभी हिन्दू-धर्मकी रक्षा चाहते थे। पर अब ये सम्प्रदाय स्थायी हो गये हैं। उपासनाके मार्गमें इनमें कुछ विभिन्नता है। पर इन सम्प्रदायोंकी एकता आज भी ज्यों-की-त्यों है। सभी सम्प्रदाय एक ईश्वरको मानते हैं। सभी सम्प्रदाय प्रणववाचक ॐ की उपासना करते हैं। सभी "आचार-प्रभवो धर्मः" का सिद्धान्त मानते हैं। ईसाई या मुसलमान-धर्मकी तरह केवल सिक्ख, बौद्ध या सनातनी होनेको ही वे मुक्तिका मार्ग नहीं समझते। सभी हिन्दू-सम्प्रदायोंका यह विश्वास है कि उपासनाका यही एक मार्ग नहीं है जिसे हम करते हैं, "आकाशात् पतितं तोयं यथा गच्छति सागरं। सर्व्वदेवनमस्कारं केशवं प्रति गच्छति॥" के सिद्धान्तोंको सभी मानते हैं सबका पुनर्जन्मके सिद्धान्तमें विश्वास है, सभी कर्मफलके कायल हैं। आत्माके अमरत्वपर सबका विश्वास है। इसके सिवा अन्य कितने समान सिद्धान्त हैं। ये सिद्धान्त सब सम्प्रदायोंके हैं। ये हिन्दू-धर्मके सिद्धान्त हैं। ये किसी अन्य धर्म्मके सिद्धान्त नहीं हैं। यह हिन्दू-सम्प्रदायोंकी और समान हिन्दू-धर्मकी विशेषता है। इसकी रक्षा करना सभी सम्प्रदायोंका कर्त्तव्य है। हिन्दू-जातिका कर्त्तव्य है। इसलिये इस धर्मकी रक्षाके लिये हिन्दू संगठित हो सकते हैं। तीसरा आधार

समान जन्मभूमि

है। सभी हिन्दू-सम्प्रदायोंकी जन्मभूमि भारत है। यही इनका वासस्थान है, यहीं इनके पूर्वज और धर्म्म-संस्थापक उत्पन्न हुए हैं। इसलिये आसेतुहिमाचल और सिन्धु नदीसे बंगसागरतक यह समग्र हिन्दुस्थान देश समग्र हिन्दू-जातिका अखण्ड और पवित्र-

त्तम तीर्थस्थान है। यह जन्मभूमि प्रत्येक हिन्दूके लिये "स्वर्गादपि-गरीयसी" है। जिसके विषयमें "धन्यास्तुते भारतभूमिभागे" की धारणा है, वह भारतभूमि प्रत्येक हिन्दूकी जन्मभूमि और धर्मभूमि है। उसकी रक्षाके लिये सब हिन्दू एक हो सकते हैं। इसके सिवा समान संस्कृति और समान इतिहास भी संगठनके आधार हैं। हिन्दू-जातिकी संस्कृति प्रत्येक हिन्दू-सम्प्रदायकी संस्कृति है और भारतेतिहास सबका इतिहास है। उस संस्कृति और उस इतिहासका गौरव रखना हिन्दूमात्रका कर्त्तव्य है। संगठनका एक आधार

समान भाषा

भी है और यह एक बहुत मजबूत आधार है। पहले सभी हिन्दुओंकी भाषा एक थी, सबकी भाषा संस्कृत थी, पर अब सबकी भाषा एक नहीं है। अब प्रांतिक भाषाएं हैं। पर इन भाषाओंके मूलमें आज भी संस्कृत भाषा है। जितनी प्रांतिक भाषाएं हैं सबका साहित्य संस्कृत-साहित्यके प्रभावसे ओत-प्रोत है। दक्षिणात्यकी भाषा तामिल और तेलगू है, पर संस्कृत-साहित्यका वहां भी पूरा प्रभाव है। सबके उदाहरण और रूपकोंमें रामायण और महा-भारतकी कथाओं और घटनाओंका वर्णन पाया जाता है। सिक्खोंको छोड़कर सबके धर्मग्रन्थ संस्कृत प्राकृतमें हैं। इस प्रकार भाषाकी भीतरी एकता है, पर बाहरी एकता नहीं है। यह एकता स्थापित करनी होगी। एक राष्ट्रभाषा बनानी होगी जिसके लिये पर्य्याप्त आधार है। संगठनका अन्तिम; पर वर्त्तमान युगमें सबसे महत्वका आधार समान राजनीतिक स्वार्थ भी है।

—प्रकाशक

श्रीमद्भगवद्गीता

सरल सुबोध भाषा टीका सहित गुटका साइजमें
छपी हुई है। लाखों प्रतियां बिक चुकी हैं।
कवरपर श्रीकृष्ण भगवानका तीनरंगा
चित्र है। २७२ पृष्ठोंकी
पुस्तकका मू० =)

अनुक्रमणिका

विषय	पृष्ठ-संख्या

गुरु नानक

हिन्दूधर्म्म प्रवेशिका

[१]

हिन्दू (आर्य) धर्म

हिन्दू (आर्य) धर्म वह सर्वश्रेष्ठ धर्म है जिसका लक्षण इस प्रकार है:—

यतोऽभ्युदय निःश्रेयससिद्धिः स धर्मः ।

अर्थ—जिस विधिसे दोनों लोकोंमें सुख प्राप्त हो, मनुष्य इस लोकमें जिस मार्गसे शारीरिक, मानसिक और सामाजिक सुख-समृद्धिके भोगोंको प्राप्त कर सके और जिस विधिसे परलोकमें बाधा पहुंचानेवाले कर्मोंका त्याग कर सके वही धर्म है, जो लोक परलोक दोनोंमें कल्याणका देनेवाला हो वही धर्म है। धर्मकी विस्तृत व्याख्या श्रीमान् पंडित बालगंगाधर तिलककृत गीतारहस्यमें की गई है, जिसका भावार्थ यहां कहा जाता है।

धारणाद्धर्ममित्याहुः धर्मेण विधृताः प्रजा ।

जिसके बिना संसार चल न सके, स्थिर न रह सके और जो पृथ्वी और लोकोंको धारण करता हो, जिससे सब कुछ नियमबद्ध रहे और जिससे जनताकी वृद्धि हो वही धर्म है और जो इसके विपरीत है वा इससे विपरीत फल पैदा करता है वह धर्म नहीं है, अधर्म है।

हिन्दुस्थान (आर्यावर्त्त)

हिन्दूधर्मको माननेवाले प्राचीन कालमें आर्य बोले जाते थे। इसीलिये इनका देश आर्यावर्त्त कहलाता था। यही आर्यलोग शनैः शनैः विदेशियोंद्वारा हिन्दू कहलाने लगे, एवं इनका देश भी हिन्दुस्थान कहलाने लगा। इसी हिन्दुस्थान देशको दिखानेके लिए इस पुस्तकके प्रारम्भमें पृथ्वीका नकशा दिया गया है।

बालको! इस पृथ्वीके नकशेपर नजर डालो। अपने इस एशियाखण्डमें और जहां एशियासे अफ्रिका मिलता है उस कोनेमें तुम्हें कितनी ही बड़ी बड़ी नदियां देखनेमें आती हैं। (१) एक यह नाइल है (२) इसके पास ये दूसरी दो—युफ्रटिस और टाइग्रिस हैं (३) एशियाके सामने भागमें दो नदियां हो आंग-हो और यांग-से-कयांग हैं (४) बीचमें आमू और सर दरिया; और इनके पास कास्पियन* सरोवर तथा वाल्गा और युरल नदिया हैं (५) वहांसे चलकर हिन्दुस्थान (आर्यावर्त्त) में आनेपर सिन्धु, गङ्गा, यमुना और नर्मदा हैं और इन्हें उल्लंघनकर दक्षिणमें गोदावरी, कृष्णा और कावेरी हैं।

हिन्दुस्थानकी प्राकृतिक महिमा

नदीके किनारे अनाज और घास चारे अच्छे हुआ करते हैं। ढोरोंके पीनेके लिये पानी भी खूब होता है, और यदि छोटी छोटी नावें बनाना आता हो तो जलके मार्गसे मुसाफिरी करने और

२, * कास्पियन सरोवर-काश्यपमुनिके नामसे 'काश्यप सरोवर' नाम पड़ा। काश्यपका अपभ्रंश ही कास्पियन है।

मार्गके आने जानेमें बहुत ही सुविधायें मिलती हैं। इस कारण प्राचीन कालमें नदियोंके प्रदेशमें मनुष्योंने बसकर अपना सुधार और उन्नति की। अर्थात् व्यापार, शिल्प-कला, साहित्य, कुटुम्ब, राज्यधर्म "आदि" विषय जिन जिन बातोंमें सभ्य मनुष्य जङ्गली मनुष्योंकी अपेक्षा बढ़े-चढ़े हैं, इन सब बातोंका इन्हीं नदियोंके प्रदेशमें विकाश हुआ।

इनमेंसे पहले दो प्रदेशोंमें आर्यधर्म और हरेक तरहके प्राचीन सुधार नष्ट हो गये। जमीन खोदनेपर उसमेंसे बासन, हथियार, अक्षरांकित ईंटे इत्यादि पदार्थ निकलते हैं जिनके आधारपर वहांकी सभ्यताके विषयमें हम बहुत कुछ जानते हैं। किन्तु सिन्धु और गङ्गा-यमुनाके प्रदेशमें बसे हुए लोगोंने जैसी पुस्तकें रचीं, वैसी नाइल और युफ्रेटिस-टाइग्रिसके प्रदेशमें, जो मिश्र, आसीरिया, खाल्डीया और बेबीलोनियाके नामसे विख्यात हैं, बसनेवाले लोगोंने नहीं रचीं। हो-आंग-हो और यांग-से कयांगका तीसरा प्रदेश जो चीन देश कहलाता है, उसकी सभ्यता अभी वर्तमान है। किन्तु इस देशके लोगोंने भी गङ्गा-यमुनाके प्रदेशमें उत्पन्न हुए धर्मको ही स्वीकार किया है। कास्पियन सरोवर और उसके आसपासकी नदियोंके किनारोंपर बसी हुई प्राचीन सभ्य प्रजा आर्य जातिके नामसे कही जाती है। यह जाति बहुत पुराने समयसे ग्रीस, रोम, ईरान, (आर्यन) हिन्दुस्थान और जुदी जुदी जगहोंमें फैली हुई थी। यह आर्य-प्रजा सिन्धु नदीके किनारे बसी। वहांसे गङ्गा-यमुनाके प्रदेशमें इन आर्यलोगोंने जो धर्म फैलाया वही दक्षिण हिन्दुस्थानमें फैला। हमारा यह मत निःसन्देह ठीक है कि पृथ्वीपर फैले हुए

धर्मोंमें सिन्धु और गङ्गा नदीके प्रदेशमें विकसित हुआ धर्म, जिसे हिन्दूधर्म कहते हैं, जितना पुराना है उतना पुराना और कोई धर्म नहीं। इससे और भी महत्वकी बात यह है कि इस धर्मका प्रभाव प्राचीन कालसे हिन्दुस्थानके बाहर पश्चिममें मिश्र और यूरोपतक और उत्तरपूर्वमें तिब्बत, चीन और जापान तक, दक्षिणपूर्वमें लङ्का, ब्रह्मदेश, सुमात्रा, जावाके टापुओंतक हुआ था। इस धर्मको हम इसके मूल उत्पत्ति-स्थान सिन्धुके आधारपर "हिन्दूधर्म कहते हैं।

इस धर्मकी प्राचीन पुस्तकें, जो हजारों वर्ष पहलेकी हैं, आज विद्यमान हैं और यद्यपि इस धर्मके आकारमें देशकालके अनुसार बड़े फेरफार हुए हैं तथापि इसके मूल तत्व अबतक विद्यमान हैं। सिन्धु और गंगाके किनारे बसनेवाले प्राचीन आर्योंने जो परमात्माके विषयमें सिद्धान्त स्थिर किये हैं, वेही सिद्धान्त हिन्दूलोग अबतक मानते हैं, और जैसे वे सूर्यके सामने देख उसके तेजमें परमात्माका ध्यान करते, उसकी स्तुति करते और अग्निद्वारा आहुति देते थे ; तदनुसार आजकलके हिन्दू भी करते हैं।

ऐसे प्राचीन कालसे चले आते हुए धर्मका स्वरूप हरेक हिन्दू बालकको जानना उचित है। मैं उसे सरल रीतिसे समझानेकी चेष्टा करूंगा। किन्तु यदि कोई नवीन बात जानना हो तो उस विषयमें मन लगाना पड़ता है और बुद्धिसे भी काम लेना पड़ता है, इसलिये मुझे आशा है कि तुम भी ऐसाही करोगे।

आज तो हिन्दू-धर्म क्या है, यह धर्म कहां उत्पन्न हुआ और

कहां कहां फैला, और वह कितना पुराना है, इत्यादि बातोंको याद रखोगे तो पर्याप्त होगा।

बड़ा = हुआ।	सिद्धान्त = निर्णय।
विकास = उन्नति।	अग्निद्वारा आहुति = यज्ञ होम।
पर्याप्त = काफी।	

---

[२]

हिन्दूधर्मके शास्त्र

बालको! परमेश्वरको समझना, उसका भजन और उसके इच्छानुसार काम करना, तथा इस भांति अपने और सबके जीवनका कल्याण करना, इसका नाम धर्म है। इस सम्बन्धमें हिन्दुस्थानमें बहुत प्राचीन कालसे जो पुस्तकें लिखी गई हैं वे हिन्दू-धर्मके शास्त्र कहलाते हैं। अर्थात् जिन पुस्तकोंमें आज्ञाके या ज्ञानके वचन हैं, वे ही 'शास्त्र' हैं।

इस शास्त्रके बड़े कौन कौन विभाग हैं और वे इतिहासमें किस क्रमसे उत्पन्न हुए हैं, इस विषयमें कुछ जानना चाहिये। जैसे कल हिन्दू-धर्मके भूगोलकी आलोचना की गयी थी वैसे ही आज हिंदू-धर्मके इतिहासका दिग्दर्शन कराया जायगा। इस इतिहासमें इन शास्त्रोंके तिथि-संवत्के कठिन प्रश्न देकर मैं तुम्हें हैरान नहीं करूंगा।

(१) हिन्दू-धर्मके सब शास्त्रोंका मूल-प्रथम शास्त्र

वेद' *(अर्थात् धर्म सम्बन्धी ज्ञानकी पुस्तक) है। वेदको 'श्रुति' सुना हुआ ज्ञान भी कहते हैं। कारण यह कि ज्ञान ऋषियोंने साक्षात् परमात्माके पाससे सुना था, याने उन ऋषि-मुनियोंके निर्मल अन्तःकरणमें परमात्माकी ओरसे अलौकिक ज्ञान प्राप्त हुआ था। यही वेद है। 'वेद' संसारमें सबसे प्राचीन पुस्तक है।

संसारका इतिहास यह पता नहीं लगा सका है कि वेदोंका निर्माण कब हुआ। पाश्चात्य सभ्यताके अनुयायी भी यह मानते हैं कि यद्यपि वेद अति प्राचीन है, तब भी यह लोग यही कहते हैं कि अबसे आठ सहस्र वर्ष पूर्व वेदोंकी पुस्तकें निर्माण की गयी थीं। यह बात निर्विवाद है कि सबसे प्राचीन और ज्ञाननिधि यदि कोई पुस्तक है तो वेद है। वेदमें परमात्माकी स्तुति, यज्ञका वर्णन और परमात्माके स्वरूपके विषयमें विचार किया गया है और इस सम्बन्धकी पुस्तकें क्रमसे संहिता+, ब्राह्मण † और उपनिषद् ‡ कहलाती हैं।

(२) इस समयके पश्चात् जो प्राचीन ऋषियोंने सुना था और

* वेदको यथार्थ समझनेके लिये यह छः विद्याएं जानना परमावश्यक हैं। (१) शिक्षा (२) कल्प (३) व्याकरण (४) छन्द (५) ज्योतिष (६) निरुक्त। इसीलिये यह छः विद्याएं वेदकी छः अङ्ग कहलाती हैं।

+ संहिता चार हैं। इनके नाम, ऋग्वेद, यजुर्वेद, साम वेद, अथर्ववेद हैं।

† ब्राह्मण चार हैं। शतपथ, गोपथ, ऐतरेय, तैत्तरीय।

‡ उपनिषद्। यद्यपि उपनिषद् इस समय १०८ की संख्यामें पाये जाते हैं; परन्तु प्रधान उपनिषद् १२ ही माने जाते हैं। जिनके नाम यह हैं—ईश, केन, प्रश्न, कठ, मुंड, मांडूक्य, ऐतरेय, तैत्तरीय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक, श्वेताश्वतर और कौषीतकी।

सबको सुनाया था उस विषयमें नये ऋषियोंने विचार आरम्भ किया। उन्होंने प्राचीन ज्ञानका स्मरणकर नये ग्रन्थ रचे। ये ग्रन्थ 'स्मृति' अर्थात् स्मरण किया हुआ ज्ञान कहलाते हैं। इनमें परमात्मा सम्बन्धी विचारको छोड़ पुराने रीतिरिवाज क्या थे और वे किस रीतिसे पालन किये जाते थे, इत्यादि विषयोंकी आलोचना है। जुदे जुदे ऋषियोंके कुलोंने स्मृतियोंकी छोटी छोटी पुस्तकें रची हैं और उनपरसे (मनु, भृगु, याज्ञवल्क्य इत्यादि) बड़े बड़े ग्रन्थ बनाये गये हैं। महाभारत, रामायण और पुराणों*में इस विषयकी बातें हैं; अतएव उनको भी स्मृतिमें गिनती है।

(३) इस समयके बाद जब इस तरहकी पुस्तकें बहुत हो गयीं तब इन सबमेंसे धर्म-सम्बन्धी क्या सार निकलता है, यह बतलानेवाले आचार्य हुए। उनके बड़े ग्रन्थ 'भाष्य' कहे जाते हैं। ऐसे भाष्य बनानेवालोंमें मुख्य शंकराचार्य, रामानुजाचार्य और वल्लभाचार्य दक्षिण हिन्दुस्थानमें जन्मे थे।

(४) अन्तमें सन्त-साधुओंने देशकी प्रचलित भाषामें परमेश्वर-विषयक ज्ञान और भक्तिके पद गाये, धर्म और नीतिका उपदेश किया। यह सन्तोंकी वाणी हिन्दू-धर्मके शास्त्रोंमें गिननेयोग्य है। कारण यह कि बहुतसे हिन्दू इसे इसी भावसे पढ़ते हैं और इसकी रचना करनेवालोंको गुरुके समान मानते हैं। कबीर, नानक,

*पुराण अठारह हैं:—ब्रह्म, पद्म, ब्रह्मांड, अग्नि, विष्णु, गरुड़, ब्रह्मवैवर्त, शिव, लिङ्ग, नारद, स्कन्द, मार्कण्डेय, भविष्य, मत्स्य, वराह, कूर्म, वामन, भागवत।

रामदास, तुकाराम, मीराबाई, तुलसीदास आदि महात्माओंके नाम सारे हिन्दुस्थानमें जाने हुये हैं और इनमेंसे कितनोंहीके बड़े बड़े पन्थ भी चलते हैं, जिनमेंसे सबसे बड़ा पन्थ गुरुनानकका चलाया हुआ सिक्ख-सम्प्रदाय गिना जाता है, जिसने अपनी वीरता और धीरतासे मुसलमानोंके शासनकालमें हिन्दू-धर्मकी बड़ी रक्षा की थी। इस समय भी सिक्खलोग अपनी वीरताके लिये प्रसिद्ध हैं। गुरुनानकका जन्म क्षत्रिय-कुलमें हुआ था। उन्होंने भक्तिके साथ साथ धर्मकी रक्षाके लिये क्षात्रधर्मका भी ऐसा उपदेश दिया जिससे प्राचीन क्षात्रतेज फिरसे प्रकट होकर अत्याचारियोंके नाशका कारण बन गया सिक्ख-सम्प्रदायक विशेषता यह है कि इसमें जातिभेद नहीं है।

अब इन जुदे जुदे शास्त्रोंके समयका कुछ वृतान्त मुझे तुमसे कहना चाहिये। किन्तु उस समयका केवल कोरा वृत्तान्त सुनना तुम्हें रोचक न होगा, अतएव उस समयके कुछ चित्र तुम्हारे समक्ष रखूंगा जो मेरे विचारमें तुम्हें अवश्य रुचिकर होंगे।

आलोचना = निरूपण, विचार।

दिग्दर्शन = कुछ विचार करना।

[३]

विश्वामित्र और नदियां

[विश्वामित्र वेदकालके ऋषि हैं। वैदिक कालमें भारतवर्ष इतना उन्नति-शिखरपर चढ़ा हुआ था कि उस समय गुणकर्मानुसार जाति मानी जाती थी। विश्वामित्र ऋषिका दृष्टान्त ही लीजिये, यह अपने तपोबलसे क्षत्रिय-जातिसे ब्राह्मण-जातिको प्राप्त हो गये और राजर्षिके स्थानमें ब्रह्मर्षि कहलाने लगे। वे बिआस (विपाश्) और सतलज (शुतुद्री) नदीके किनारे खड़े हैं। नदियां दोनों किनारोंके बीच पूर्ण जलसे बह रही हैं। ऋषि और उनके साथियोंको नदी उतरनेकी इच्छा है। ऋषि नदीसे प्रार्थना करते हैं। ऋषि और नदीके बीचका यह निम्नलिखित संवाद है।]

विश्वामित्र—(मन ही मन) पर्वतकी गोदसे निकली हुई ये दो नदियां विपाश् (बिआस) और शुतुद्री (सतलज) पानीसे भरी हुई दौड़ी चली जाती हैं। ये घुड़सालमें छूटी, हिंनहिनाती हुई घोड़ियों अथवा नाद करती हुई सफेद गो माताओंके सदृश लगती हैं।

(नदियोंको सुनाते हुए)

इन्द्रसे भेजी हुई, उसके आज्ञानुसार ही चलनेकी इच्छा करती हुई, तुम समुद्रके प्रति जाती हो।

सबकी बड़ी माता सिन्धु (शुतुद्री) के पास मैं आया हूं। मैं सुन्दर विशाल विपाश्के समीप आया हूं। जैसे गायें बछड़ेको ओर

थंभती हुई जाती हैं वैसे तुम दौड़ती और शब्द करती हुई समुद्रके प्रति जाती हो। मैं तुम्हें नहीं रोकूंगा।

नदियां—हां, पानीसे भरपूर हम अपने मिलनेके स्थान समुद्रकी ओर जा रही हैं। समुद्र ही हमारा ईश्वरसे नियत किया हुआ मिलनेका स्थान है और यदि एक बार हमें उस ओर जानेकी वह आज्ञा करता है तो हम पीछे फिरती नहीं! कहो ऋषि! तुम हमें किस लिये बुलाते हो, तुम्हें क्या करना चाहिये ?

विश्वामित्र—माताजी! ठीक तुम परमात्माकी नियत की हुई **सत्यकी सीधी रेखा**पर ही चलती हो, पर कृपा कर यदि तुम मेरे अनुरोधसे घड़ीभर अपना दौड़ना बन्द कर दो तो अच्छा होगा। मैं कुशिक राजाका पुत्र हूं और बहुत भक्तिसे तुम्हारी रक्षा और कृपाका वरदान मांगता हूं।

नदियां—हाथमें वज्र धारण करनेवाले इन्द्रदेवने हमें पर्वत चीरकर उसकी गुफामेंसे निकाला है। वृत्र नामक दैत्यने हमें चौतरफसे घेर रखा था किन्तु इस सारे जगत्के उत्पन्न करनेवाले और चलानेवाले इन्द्रदेव हमें बाहर ले आये। उनकी इस सृष्टिकी चलानेवाली आज्ञामें रहकर ही हम चलती हैं। इन्द्रदेवका यह स्तुतियोग्य पराक्रम है कि वज्रसे उन्होंने वृत्र और उनके आस पास बैठनेवाले साथियोंको मार डाला। यही कारण है कि हमारा जल, जो सदा चलता ही रहता है, बहने लगा।

विश्वामित्र—हे स्वर्गमें बसनेवाली, स्वर्गसे उतरकर आई हुई बहनो! मैं इस रथमें बैठकर बहुत दूरसे आया हूं। यह स्तुति

सुनकर मेरे लिये तुम नीचे झुको तो मैं पार जाऊं। तुम्हारा प्रवाह मेरे रथके नीचे रहे, तो इतना ही बस होगा।

नदियां—हे ऋषि! तुम्हारा कहना हमने सुना। तुम इस रथमें बैठकर दूरसे आये हुए हो, इसलिये हम झुक जाती हैं।

(नदियोंका जल उतर गया)

विश्वामित्र—तो यह भरत-कुलकी सन्तानें इन नदियोंके पार उतरेंगी। ये लोग पराक्रमी हैं, भूमिकी खोजमें निकले हैं। जैसे इन्द्रकी भेजी हुई तुम जाती हो और तुम्हें कोई पीछे नहीं हटा सकता, वैसे ये भी इन्द्रके भेजे हुए जायं और विजय प्राप्त करें। उनपर तुम प्रसन्न रहो, यही मेरी प्रार्थना है। उस ऋषिपर नदियां प्रसन्न हुईं। पराक्रमी भरत नदी-पार उतरे। तत्पश्चात् ऋषिने फिर नदियोंकी स्तुति की, कि तुम फिर जलसे भरपूर हो जाओ, और वेगसे बहती रहो कि हमें बहुत धन-धान्य मिले।

बालको! तुम्हें इस ऋषि और नदियोंकी बात करते सुन अचरज होगा। हमारे प्राचीन ऋषि लोग इस प्रकारसे सूर्य, चन्द्र, वायु, मेघ, अरुणोदय, अग्नि आदि इस सृष्टिके अद्भुत और सुन्दर पदार्थोंमें परमेश्वरका वास देखते थे। इस भांतिका उन्हें अनुभव होता था कि मानों परमेश्वर उनके द्वारा बोलते और उन्हें चलाते हों। इस कारण वे "ऋषि" (संस्कृत दृश् क्रिया पदके आधारपर) अर्थात् देखनेवाले कहलाते हैं।

आकाशमें जैसे तारे चमकते हैं वैसे ही ये सारे पदार्थ परमेश्वरके तेजसे उनकी दृष्टिमें चमकते थे। इसलिये उन पदार्थोंको

और उनमें वास करनेवाले प्रभुके रूपको वे 'देव' (देव अर्थात् दीप्तिवाला, संस्कृत दिव धातुके आधारपर) कहकर पुकारते थे।

---

[४]
एक ही परमात्माके अनेक नाम

देवोंमें मुख्य

(१) इन्द्र—जो अपने वज्रके द्वारा पर्वतोंको चीरकर दैत्योंसे बांधी हुई गायको छुड़ाता है, दैत्योंको मारता है, आर्य्यलोगोंको युद्धमें जिताता है, वही सर्वशक्तिमान् परमेश्वर इन्द्र है। इन्द्र और दैत्योंका युद्ध तो आकाशमें होते हुए बादलोंका तूफान और गर्जनका द्योतक है, वज्र विजली और पर्वत बादलोंका द्योतक है। उन पर्वतोंमें बँधी हुई गायें वर्षासूचक हैं।

(२) वरुण और मित्र—सारे विश्वमें व्यापक पाप-पुण्यके देखनेवाले देव वरुण हैं। उनसे कोई बात छिपी नहीं। रात्रिमें जब सब तरफ अन्धकार छाया रहता है तब भी यह देव जागते रहते हैं। यदि दो मनुष्य कहीं चुपचाप कुछ बात करते हों तो वहां भी यह तीसरा रहता ही है। दिनमें हमारे मित्रकी तरह हमें बुलानेवाले और कामोंमें सहायता करनेवाले परमेश्वर मित्र नामसे पुकारे जाते हैं।

(३) सूर्य-सविता—यह इस जगत्के सब पदार्थोंको उत्पन्न करनेवाले और चलानेवाले देव हैं।

(४) *विष्णु*—यह देव विश्वमें व्यापक हैं। इनका धाम मधुरता, सुख और तेजसे भरपूर है।

(५) रुद्र—यह आंधी और प्रज्ज्वलित अग्निमें दिखाई देनेवाला परमेश्वरके क्रोध और प्रचण्डताका रूप है।

(६) *अग्नि*—यह घर घरमें प्रकाशमान परमेश्वरका रूप हैं। इसमें हवन की हुई वस्तु देवताको मिलती है, अतएव यह देवताओं-का होता अर्थात् बुलानेवाला कहा जाता है।

(७) *यम*—यह हमें नियममें रखनेवाला, मृत्युके पश्चात् परलोकका देवता है।

(८) *आदिति, हिरण्यगर्भ, विश्वकर्मा, पुरुष*—अब कुछ ऊंची दृष्टिसे देखो। यह आकाश अखण्डरूपसे व्याप्त है, इसके टुकड़े हो नहीं सकते। यह सूर्य आदिकी माता 'अदिति' उस परमेश्वरका अखण्ड-अनन्त स्वरूप है। उस परमेश्वररूप तेजके अण्डमेंसे यह सारा जगत् मानों पर फड़फड़ाकर निकला है, अतः उस परमेश्वरका नाम 'हिरण्यगर्भ' है। इस जगत्का रचनेवाला वही है, इसी कारण उसे विश्वकर्मा कहते हैं। वही इस जगत्में आत्मरूपसे भरपूर है, इसलिये उसे 'पुरुष' कहते हैं।

ऋषिलोग इन देवतारूपी प्रभुकी शक्तियोंकी स्तुति करते, अग्निमें उनके निमित्त आहुति देते और उनसे धन-धान्य, पशु और कुटुम्बका सुख मांगते थे। इसके साथ ही वे यह मानते थे कि यह विश्व एक सत्यकी ही सीधी रेखापर चलता है।

यह विश्व कहांसे आया, किसने रचा, किस रीतिसे रचा गया इत्यादि जगत् और ईश्वरसम्बन्धी गम्भीर प्रश्नोंपर वे विचार करते थे।

---

[५]

जनक राजाकी सभा

पूर्वकालमें यहांके राजा धर्मात्मा और केवल संसारकी भलाईके लिये ही राज्य करनेवाले होते थे। ऐसे अनेक राजा हो गये हैं उनमेंसे मिथिलामें जनक नामके एक महाज्ञानी राजा थे। वे सिंहासनपर बैठ उत्तम रीतिसे राजकाज करते थे। उनके ज्ञानकी कीर्त्ति ऐसी फैली हुई थी कि दूर दूर देशोंके ब्राह्मण भी उनके पास ज्ञान सीखने आते थे। उस समय राजाओं-के यहां बड़े बड़े यज्ञ हुआ करते थे, जिनमें विद्वानलोग मिलकर आपसमें प्रश्न पूछकर परमेश्वर विषयक चर्चा चलाते थे। जनक राजाने भी एक ऐसा यज्ञ किया और ब्राह्मणोंको बहुत दक्षिणा दी। इस यज्ञमें ठेठ कुरुपाञ्चाल देशतकके ब्राह्मण एकत्र हुए थे। जनक राजाको यह जाननेकी इच्छा हुई कि इन ब्राह्मणोंमें सबसे श्रेष्ठ विद्वान कौन है? अतएव उन्होंने एक हजार गायेँ एक बाड़में भर और उनमेंसे हरेकके सींगमें मुहरें बांधकर उन ब्राह्मणोंसे कहा, "महाराज! तुम्हारे मध्यमें जो ब्रह्मिष्ठ (परमेश्वरके ज्ञानमें सबसे श्रेष्ठ) हो, वह इन गायोंको ले जाय।" किसी ब्राह्मणकी यह करनेकी हिम्मत न हुई। केवल

याज्ञवल्क्यने अपने शिष्यसे कहा, "अरे सोमश्रवा ! इन गायोंको हांक ले जाओ।" ब्राह्मण याज्ञवल्क्यपर कुपित होकर बोले—"अरे याज्ञवल्क्य ! क्या तू ब्रह्मको सबसे अधिक जाननेवाला है ?" जनक राजाके यज्ञमें अश्वल नामक ब्राह्मण होता था, उसने आकर पूछा "याज्ञवल्क्य ! क्या तुम ब्रह्मको सबसे अधिक जानते हो ?" याज्ञवल्क्यने उत्तर दिया, "ब्रह्मको कौन जान सकता है ? उसे जाननेवाला जो पुरुष होगा उसे तो हम नमस्कार करते हैं, हमें तो केवल ये गायें चाहिये।" अश्वलसे लेकर यज्ञमें एकत्र सभी ब्राह्मणोंने याज्ञवल्क्यसे लगातार प्रश्न पूछे और याज्ञवल्क्यने उनके उत्तर दिये। इन प्रश्न करनेवालोंमें वाचक्नवी नामकी गर्गगोत्रकी (गार्गी) एक स्त्री भी थी। इस बातसे यह ज्ञात होता है कि स्त्रियां भी परमेश्वर सम्बन्धी कठिन प्रश्नोंकी चर्चामें भाग लिया करती थीं। इस गार्गी वाचक्नवीने याज्ञवल्क्यसे कहा, "याज्ञवल्क्य ! मैं तुमसे दो प्रश्न पूछती हूं और यदि तुम उनका उत्तर दे सके तो निःसन्देह यहांपर एक भी ऐसा ब्राह्मण नहीं कि जो तुम्हें जीत सकेगा। एक प्रश्न यह है कि जो इस गगनके पार और इस पृथ्वीके नीचे रहता है, जिससे बीचमें यह गगन और पृथ्वी लटके रहते हैं, जो भूत भविष्य और वर्तमान तीनों कालोंमें रहता है, वह किस वस्तुमें ओता-प्रोत है ? याज्ञवल्क्यने उत्तर दिया—"आकाशमें। हमसे बाहर यह दृश्यमान सारा जगत् आकाशमें ओतप्रोत है। यह कथन बिलकुल ठीक है।" गार्गीके एक प्रश्नका इस बातसे यथार्थ उत्तर मिल गया। तत्पश्चात् गार्गीने याज्ञवल्क्यसे नमस्कार कर

कहा—"ऋषिजी ! अब मैं दूसरा प्रश्न पूछती हूं, जिसे सावधान होकर सुनिये।'

फिर गार्गीने दूसरा प्रश्न पूछा कि "अच्छा ! तो आकाश किसमें ओतप्रोत है," याज्ञवल्क्यने उत्तर दिया—"अक्षरमें। अक्षर—अर्थात् जिसका कभी नाश नहीं होता---ऐसा जो ब्रह्म परमेश्वर उसमें यह आकाश ओतप्रोत है। हे गार्गि ! यह अक्षर न स्थूल,न अणु, न ह्रस्व, न दीर्घ है। उसके आंख नहीं,वाणी नहीं,मन नहीं, कुछ उसके अन्दर नहीं और न कुछ बाहर। उस अक्षरकी आज्ञामें ये सूर्य चन्द्रमा अपने अपने स्थानोंमें स्थित रहते हैं—उसीकी आज्ञामें गगन और पृथ्वी दोनों बंधे रहते हैं। कितनी ही नदियां इस बरफसे ढंके हुए पर्वतसे निकलकर पूर्वकी ओर बहती हैं, कितनी ही पश्चिमकी तरफ बहती हैं, सब उसके आज्ञानुसार बहती हैं। उसके सिवाय कोई देखनेवाले नहीं, उस अक्षरमें यह आकाश ओतप्रोत है। उसे जिसने जान लिया वह 'ब्राह्मण' है और जो नहीं जानता वह "कृपण"—दयाके योग्य अज्ञानी है।"

इस प्रकार सब देवताओंके स्थानमें केवल एक अक्षर, अविनाशी परमेश्वरकी चर्चा सुन शाकल्य नामका एक ब्राह्मण याज्ञवल्क्यसे पूछने लगा—"याज्ञवल्क्य ! कितने देवता हैं ?" याज्ञवल्क्यने यही प्रतिपादन किया कि अन्तमें सब देवताओंका समावेश एक परमात्मामें ही होता है, और यद्यपि उनके नाम जुदे जुदे हैं तथापि वे परमात्माके ही भिन्न भिन्न रूप हैं।

इसके पश्चात् याज्ञवल्क्य बहुत बार जनक राजाके पास

जाने लगे। जो परमज्ञानी राजाको भी ज्ञान न दे सके, ऐसे उस समयमें वे एक ही ऋषि थे। इसलिये जब कभी वे आते थे तभी राजा राज्यासनसे उठ, उनके समक्ष बैठते और परलोक, परमात्मा आदि विषयों पर चर्चा चलाते थे।

होता=यज्ञमें देवताओंको बुलानेवाला। गगन=आकाश।
समावेश=समाना। ओतप्रोत=गुथा हुआ
अणु=बहुत छोटा। प्रतिपादन=निरूपण

---

[६]

गौतमबुद्ध और ब्राह्मण

ऋग्वेदसंहितासे उपनिषद्पर्यन्तकालमें ब्राह्मण और क्षत्रियोंने परमेश्वरके विषयमें और उसे प्राप्त कर लेनेके मार्गके सम्बन्धमें विशेष रूपसे बहुत विचार किया और आपसके वाद-विवादसे इस विषयमें जितना ज्ञान हो सकता था, उतना उन्होंने उपलब्ध करनेका प्रयत्न किया। वाद-विवादसे बहुत ज्ञान बढ़ता है और मनमें यह संतोष हो जाता है कि अमुक विषयमें कुछ विचारनेकी बात बच नहीं रही। किन्तु कुछ काल व्यतीत होनेपर यह वाद-विवाद केवल शब्दोंका युद्धमात्र हो गया, और ऋषियोंके बतलाये हुए मार्ग आंख मींचकर चलनेकी रूढ़ियां बन गये, अर्थात् पूर्वजोंके उपदेशके मर्मको न समझ लोग सिर्फ लकीरके फकीर हो गये। इस नये युगमें जगत्के जगानेवाले दो बड़े उपदेशक जन्मे—एक महावीर स्वामी और

दूसरे गौतमबुद्ध। बुद्ध भगवानके हिंसा-निषेधका रहस्य और उनकी स्तुतिका वर्णन गीतगोविन्दमें जयदेव कविने बड़े ही सुन्दर शब्दोंमें किया है—

निन्दसि यज्ञ विधे रहह: श्रुतिजातम् ।

सदयहृदयदर्शितपशुघातम् केशवधृतबुद्धशरीर ।

जय जय देव हरे ।

बुद्ध भगवानके सम्बन्धमें कहनेयोग्य और भी बहुतसी बातें हैं, पर इतना ही कहना पर्याप्त है कि बौद्धोंके जो पूज्य हैं वे ही हमारे अवतार हैं। और नित्य नैमित्तिक कामोंमें "बौद्धावतार" का नाम लिये विना हम सनातनधर्मावलम्बियोंके किसी कर्मका संकल्पतक नहीं होता। आर्यधर्म, आर्य-संस्कृति, सांस्कृतिक एकता आदिके प्रचारके लिये यह अत्यन्त आवश्यक है कि भारतवर्ष और बौद्ध देश परस्परकी समान प्राचीन संस्कृतिका अवलोकन कर नवीन जीवन लाभ करें।

महावीर स्वामी और गौतमबुद्धके सिद्धान्तोंके विषयमें कुछ आगे कहा जायगा। इस स्थानमें तो केवल मैं तुम्हें गौतमबुद्ध और ब्राह्मणोंकी एक कथामात्र सुनाऊंगा। जिससे वह समय कैसा था इस बातका तुम्हें परिचय होगा।

पहले किसी नगरमें वशिष्ठ और भरद्वाज ऋषिके कुलके दो ब्राह्मण रहते थे। उन दोनोंमें ब्रह्म और उसकी प्राप्तिके विषयमें विवाद चला। एक कहता था कि अमुक आचार्यका कहना ठीक है और दूसरा कहता था कि अमुक आचार्यका कहना ठीक है।

इससे कुछ निर्णय न हो सका, इसलिये दोनोंने सोचा कि "चलो, हम बुद्ध भगवानके पास चलें और उनसे पूछें। कहते हैं कि उनके सदृश ज्ञानी और साधु महात्मा दूसरा कोई नहीं है, अतः वह हमें ठीक बात समझायेंगे।" दोनों गौतमबुद्धके पास गये; और उन्होंने प्रणाम कर कहा—"महाराज! परमेश्वर और उसकी प्राप्तिके विषयमें ब्राह्मणोंमें जुदी जुदी तरहके मत प्रचलित हैं, कोई कुछ कहता है तो कोई कुछ कहता है। अतएव उनमेंसे किसका कथन ठीक है, यह हमें समझ नहीं पड़ता। इसलिये क्या ठीक है, यह हमें बतलाइये।"

गौतमबुद्ध—भाइयो! उनमेंसे किसीने तो परमेश्वर देखा ही होगा।

वशिष्ठ—नहीं, ऐसा तो मालूम नहीं होता।

बुद्ध—उनके गुरुओंने कदाचित देखा होगा?

वशिष्ठ—उनके गुरुओंने देखा हो—यह भी हमें प्रतीत नहीं होता।

बुद्ध—उनके गुरुओंके गुरुने कदाचित देखा हो?

वशिष्ठ—उन्होंने भी देखा हो—ऐसा हमें नहीं मालूम होता।

बुद्ध—तब तो तीन वेदके ज्ञाता ब्राह्मण भी, जिस वस्तुको उन्होंने कभी नहीं देखा, जाना नहीं, उसकी बातें करते और उस मार्गको बतलाते हुए देखनेमें आते हैं।

वशिष्ठ—ऐसा ही है।

बुद्ध—यह तो अब अन्धपरम्परा हुई। न आगेका मनुष्य देख सकता है, न बीचका देख सकता है, न पिछला ही देख सकता है

तीनों वेदोंमें निपुण ब्राह्मणोंकी वाणी भी केवल शब्दोंका शुष्क आडम्बरमात्र है। वशिष्ठ! एक मनुष्य चौगड्डेके मैदानमें बैठकर नसैनी बनाता है, और उससे यह पूछा जाता है कि नसैनीसे वह किस मकानपर चढ़ेगा तो वह उत्तर देता है कि उस मकानको मैं जानता ही नहीं! वह नसैनी कैसी और कितनी बड़ी बनानी चाहिये इत्यादि क्या वह मनुष्य जान सकता है? अब मैं एक दूसरा सिद्धांत देता हूं। देखो, यह अचिरा नामकी नदी दोनों किनारोंके मध्यमें प्रवाहसे बहती है, और सामनेवाले किनारेपर जिसे काम है वह मनुष्य यदि इस किनारेपर खड़ा खड़ा चिल्लाये कि 'ओ सामनेवाले किनारे! इधर आओ, ओ सामनेवाले किनारे! समीप आओ' तो इस प्रकार हजार बार पुकारनेपर भी क्या सामनेका किनारा समीप आ सकता है वा उस किनारेपर पहुंचा जा सकता है? उस किनारेपर पहुंचनेके लिये तो उसे नावमें बैठना चाहिये और पतवार लगाकर उसे उस ओर चलना चाहिये। इसी प्रकार यदि तीन वेदोंके विद्वान् ब्राह्मण भी सच्चे ब्राह्मणपनके गुणको छोड़ आलसी और मूर्ख होकर कहा करें कि 'हे इन्द्र! हम तुम्हें बुलाते हैं, हे वरुण! हम तुम्हें बुलाते हैं, तो इससे क्या लाभ है? फिर कल्पना करो कि एक मनुष्य यह जानता है कि उस किनारेपर किस भांति जाना चाहिये, लेकिन वह इस किनारेपर इतना रीझा हुआ है अथवा उसकी विचारशक्ति माया-के जालमें ऐसी जकड़ी हुई है कि वह कुछ चेष्टा नहीं कर सकता, तो अब क्या वह मनुष्य सामनेके किनारेपर जा सकता है? नहीं, कदापि नहीं। इसी प्रकार जो मनुष्य यह मेरा मित्र और यह मेरा शत्रु—यह अपना और यह पराया—इस भांतिके अज्ञानकी चद्दर

ओढ़कर सोया हुआ है,और जो इस दुनियांके राग-रङ्ग, पैसे-टके, स्त्री-बच्चे आदि प्रलोभनमें फँस रहा है, वह सच्ची वस्तुतक क्या पहुंच सकता है ?

दूसरा गुण हो वा न हो, लेकिन जिसमें 'शील' और 'प्रज्ञा' अर्थात् सदाचार और चतुराई केवल विद्या वा बुद्धि नहीं, किन्तु परिपक्व ज्ञानसहित विवेक है, वही 'ब्राह्मण' है ।

कल्पना करो=मानो । प्रलोभन=लुभानेवाली वस्तुएं ।

---

[७]

सूत पौराणिक

वस्तुतः पुराणोंमें इतिहास और महापुरुषोंकी जीवनियां हैं। आध्यात्मिक गूढ़ तत्त्वोंको आलङ्कारिक कथाओंके रूपमें समझाया गया है, किन्तु पीछेसे स्वार्थी लोगोंद्वारा बहुतसे क्षेपक और अनेक अप्रमाणित कथाओंका समावेश हो गया है । इसलिये विवेकी जनोंको हंसकी भांति जलमेंसे दूधका भाग भिन्न कर लेना चाहिये। केवल जो उत्तम उत्तम सारकी बात है वही ग्रहण की जानी चाहिये।

गौतमबुद्ध और महावीर स्वामीने सारे देशमें फिरकर सब लोगोंके अज्ञानके जालोंको छिन्नभिन्न कर दिया। उस समय ब्राह्मण भी शुष्क वाद-विवाद छोड़ यज्ञ-यागादिककी उपेक्षा कर देशके धर्मको सुधारनेके लिये कटिबद्ध हो गये। प्राचीन धर्ममेंसे जितना अंश आवश्यक लगा उतना प्रचलित रखनेके लिये उन्होंने कुछ नई 'स्मृतियां' (प्राचीन वेदके कालके धर्ममेंसे जो याद रहा वह पुस्तकें)

रखीं। उनमें समयानुकूल जो नई बात ग्रहण करनेयोग्य वा सुधारने-योग्य लगी उन्होंने उसे ग्रहण किया। प्राचीन इतिहास और कथायें उपयोगमें लेकर उनके द्वारा लोकमें धर्मका उपदेश उन्होंने आरम्भ किया।

प्राचीन कालमें ब्राह्मण और क्षत्रियोंसे भिन्न लोगोंने भी धर्मके उपदेश करनेमें जो भाग लिया था उसे प्राचीन इतिहासोंमेंसे उन्होंने खोज निकाला और सब वर्णोंके लोगोंके लिये नये और समयोपयोगी कुछ ग्रन्थ उन्होंने रचे। इन पुराने और नये इतिहास और आख्यानोंके ग्रंथोंमें वाल्मीकि-रचित रामायण और व्यासकृत महाभारत और अठारह पुराण मुख्य हैं। जब पौराणिक कालमें "द्विज" अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इनसे भिन्न शूद्रवर्गके लोगोंको वेद न पढ़ाया जाता था, तब भी इन लोगोंको इतिहास और पुराण सुननेका अधिकार था। वे इन पुस्तकोंद्वारा ही वेदका ज्ञान प्राप्त करते थे।

इस प्रकार उस समयमें जुदे जुदे वर्णके लोग एक दूसरेको उपदेश करते थे। उस समयमें सूत पौराणिक हो गये हैं। यह द्विज न होते हुए भी बड़े विद्वान थे। सब ऋषि-मुनि बैठकर इनसे शास्त्रोंकी कथायें सुना करते थे।

[८]

शंकराचार्य और मण्डनमिश्र

अबसे अनुमान अढ़ाई सहस्र वर्ष पहले जब इस देशमें अधिकांश मनुष्य अंध श्रद्धालु होने लग गये थे, तब भगवान् गौतमने निम्नलिखित उपदेशका जगत्में प्रचार किया था:—"यह संसार क्षणभंगुर और मिथ्या है, परमेश्वरका भजन वा यज्ञयागादिक करना व्यर्थ है, किन्तु हमारे हृदयमें सांसारिक वासनाओंकी जड़ जम रही है उसका समूल नाश होना चाहिये। अर्थात् जैसे दीपक बुझ जाता है वैसे अपने इस अहंकारका निःशेष होना—इसका ही नाम 'निर्वाण' है और यही उत्तम स्थिति है। निर्वाणका अर्थ तृष्णा और अहंकारका नाश है। फिर परमेश्वरको किसीने देखा नहीं, इसलिये इस जगत्को किसने उत्पन्न किया होगा, इस प्रकारका तर्कवितर्क भी निरर्थक है।" बुद्धदेवके इस उपदेशसे हजारों स्त्री-पुरुष संसार छोड़ भिक्षु और भिक्षुणी बन गये, वेद-धर्म्मकी क्रियाओंपरसे लोककी श्रद्धा विचलित होने लगी। उस समय ब्राह्मणोंने पुराने शास्त्रोंको नवीन रूप देकर और लोगोंमें जिससे धार्मिक भाव बढ़ें, उस प्रकारकी परमेश्वरकी भक्तिके उपदेश चारों ओर फैलाकर वेद-धर्मको फिर जागृत किया। फिर कुछ समय बीतनेपर साधारण लोग कर्मकांडमें फँस गये और अज्ञानतावश एक अद्वितीय परमात्माके ज्ञानकी उपेक्षा कर अनेक देवताओंकी उपासना करने लगे। किन्तु परमेश्वर है, वह एक है, और उसका ज्ञान ही मुक्तिका सच्चा साधन है,इस सिद्धान्तके पुनरुज्जीवन करनेवाले महात्माकी आवश्यकता थी। ऐसे महात्माने

दक्षिणके केरल देशमें मालावरके किनारे आठवें शतकके लगभग जन्म लिया।

बाल्यावस्थासे ही इनका मन संसार छोड़कर परमात्माका ज्ञान प्राप्त करने और उस ज्ञानका सर्वत्र उपदेश करनेकी ओर था, किन्तु वे अपनी प्रेमाकुलित विधवा माताके निमित्त कुछ कालतक जगत्के व्यवहारमें लगे रहे। यह किंवदन्ती है कि एक समय वे नदीपर नहाने गये और वहां पानीमें मगरने उनका पैर पकड़ लिया,यह देख उनकी माता घबड़ाकर चिल्ला उठीं,तब शंकराचार्य्यने कहा,"माताजी! यदि तुम मुझे संन्यास लेनेकी आज्ञा दो तो यह मगर मेरा पैर छोड़ देगा।" इस बातका तात्पर्य्य यह है कि इस संसार रूपी नदीमें हमें विषयरूप मगर पकड़े हुए हैं, जिनके मुखमेसे छूटनेके लिये वैराग्य और संन्यास आवश्यक है। शंकराचार्यने संन्यास तो लिया, किन्तु उनके हृदयमें दया थी, इसलिये अपनी प्रेमाकुलित माताके स्मरण करनेपर उनके पास आना उन्होंने स्वीकृत किया। इस प्रतिज्ञानुसार अपनी माताके मरणके समय जब उनके बन्धु-बान्धव द्वेषसे उनका अग्निदाह भी करनेके लिये न आये तब शंकराचार्य्यने स्वयं संन्यासी होनेके कारण क्रिया करनेका निषेद होते हुए भी, मातृ-भक्तिसे अग्निदाह किया।

इस समयमें मण्डनमिश्र नामक वैदिक धर्मके एक बड़े कर्म-मार्गी विद्वान थे। उनके पाण्डित्यकी कीर्त्ति चारों ओर छा रही थी। इनके परास्त किये विना कर्ममार्गके स्थानमें ज्ञानमार्ग चलाना असम्भव था। इसकारण शंकराचार्य फिरते फिरते मण्डन-मिश्रके गांवमें आये। गांवके बाहर पनिहारियां पानी भर रही थीं,

उनसे उन्होंने पूछा—"भाइयो! इस गांवमें मण्डनमिश्रका घर कहां है, यह बतलाओ?" पनिहारियोंने कहा—"महाराज! सीधे चले जाओ और जिस घरके आंगनमें पिञ्जरोंमें तोते और मैना वेद और ईश्वर-सम्बन्धी विवाद करते हों वही मण्डनमिश्रका घर है।" मण्डनमिश्रके यहां सैकड़ों विद्यार्थी इस विषयकी रातदिन चर्चा करते थे, इसकारण उनके पाले हुए पक्षियोंको भी इसका अभ्यास हो गया था। इस पतेसे शङ्कर मण्डनमिश्रके घर पहुंचे और उस कर्ममार्गके विद्वान्को ज्ञानमार्गका उपदेश करना आरम्भ किया। इस विषयमें दोनों महाविद्वानोंका घोर वादानुवाद चला। शास्त्रार्थमें कौन जीतेगा, यह कौन कह सकता था?

मण्डनमिश्रकी स्त्री, जो अपनी विद्वत्ताके कारण सरस्वतीका अवतार मानो जाती थीं, स्वयं मध्यस्थ बनायी गयीं और यदि शङ्करकी विजय हो तो मण्डनमिश्र संन्यास लें,यह निश्चय हुआ। वाद-विवादमें जब शंकरकी विजय प्रतीत होने लगी, तब सरस्वती बड़े सङ्कटमें आ पड़ीं। एक ओर शंकराचार्यका पक्ष सत्य है यही उसके हृदयसे अन्तर्ध्वनि होती थी, दूसरी ओर अपने पतिको अपने मुखसे परास्त करनेका साहस कैसे हो सकता था, इस धर्म-सकटमें सरस्वतीने दोनोंके कण्ठमें जयमाला पहनायी और यह कहा कि जिसके कण्ठकी माला सूख जायगी, वह शास्त्रार्थमें पराजित हुआ समझा जायगा। मण्डनमिश्रकी माला सूख गयी, वे हार गये और संन्यासी हुए। शङ्कराचार्यके शिष्योंमें संन्यास लेनेके पश्चात् उनका नाम सुरेश्वराचार्य हुआ। फिर शङ्करने हिन्दुस्थानमें स्थान स्थानपर फिरकर परमात्माके ज्ञानका उपदेश किया और उपदेशकी रक्षाके लिये चारों

दिशाओंमें चार गद्दियां स्थापित कीं। बत्तीस वर्षकी अवस्थामें ये महात्मा विदेह कहे जाते हैं। यह स्मरण रखना चाहिये कि यह संसारका नियम है कि मनुष्योंका चित्त प्रायः रजोगुण और तमोगुण-की ओर झुकता रहता है, जिसका फल यह होता है कि अज्ञान और प्रमादके कारण कभी नास्तिकता और कभी अन्धश्रद्धादि दुर्गुण मनुष्योंमें आ घुसते हैं। इसलिये उनको सुमार्गमें लानेके लिये समय समयपर महात्माओंको देशकालानुसार भिन्न भिन्न प्रकारके उपदेश देने पड़ते हैं। यह उपदेश कभी कर्म-प्रधान होते हैं और कभी भक्ति-प्रधान और कभी निवृत्ति-प्रधान और कभी प्रवृत्ति-प्रधान होते हैं। किन्तु उन उपदेशोंमें वेद-उपनिषदादि प्राचीन शास्त्रोंके तत्वोंकी ही प्रधानता रहती है।

क्षणभंगुर=नाशवान। निःशेष=नाश, शेष न रहना।
परास्त=पराजित, हारना। किंवदन्ती=लोग कहते हैं।

---

[९]

रामानन्द और उनके शिष्य

शङ्कराचार्यके पश्चात् लगभग ढाई सौ वर्ष बाद रामानुज नामक एक आचार्य हुए। उन्होंने ज्ञानके साथ कर्म और भक्तिका सम्बन्ध घनिष्ठ और आवश्यक बतलाया। उनकी शिष्यपरम्परामें डेढ़ सौ वर्ष व्यतीत होनेपर रामानन्द हुए। उन्हें रामानुजाचार्यके सम्प्रदायमें खानपान और जातिपांतिके जो बहुत भेद हो गये थे, वे उचित न लगे। अतएव उन्होंने काशी जाकर एक जुदा मठ स्थापित किया।

ये रामके भक्त थे, भक्ति और ज्ञान यही परमेश्वरकी प्राप्तिके सच्चे साधन हैं, यह इनका उपदेश था। हिन्दुस्थानमें धर्म्मका उपदेश संस्कृतके वदले देशकी प्रचलित भाषामें—अर्थात् अशिक्षित लोग भी समझ सकें उस भाष ामें—भलीभांति होने लगा। चारों ओर भक्त और साधुजन उत्पन्न हुए। एक वार रामानन्दजी दक्षिणकी यात्रामें जाते थे, वहां मार्गमें एक गांवके पास उन्होंने विश्राम किया। गांवके वहुतसे स्त्री-पुरुष उनकी कीर्त्ति सुन उनके दर्शन और सत्कार करने आये। उनमें एक स्त्री थी। उसकी सेवासे प्रसन्न हो रामानन्दने उसे आशीर्वाद दिया कि—"पुत्रवती हो।" पर उस स्त्रीका पति तो काशी जाकर उनका स्वयं ही शिष्य होकर संन्यासी हो गया था, इस वातका जव उन्हें परिचय मिला तभी वे काशी लौट आये और अपने शिष्य संन्यासीसे पूछा, "संन्यासी होनेके पहले क्या तुमने अपनी स्त्रीसे आज्ञा ली थी?" उसने निषेध किया। रामानन्दने तुरन्त उसे गृहस्थाश्रममें प्रवेश करने और घरमें रहकर परमेश्वरकी भक्ति करनेका उपदेश दिया। उस शिष्यने गुरुके आज्ञानुसार घरमें पुनः प्रवेश किया। उसके पुत्र एक वड़े मराठी ग्रन्थकर्त्ता और साधु हुए।

यह कहा जाता है कि रामानन्द सदा सूर्योदयके पहले गङ्गा-स्नानके लिये जाया करते थे। एक वार उनके मार्गमें पड़े हुए एक मनुष्यपर उनका पैर पड़ गया। इस घटनासे दुःखित होनेके कारण उनके मुखसे सहसा "राम! राम!" ये शब्द निकले। उस पददलित मनुष्यके लिये यह उद्गार रामनामका मन्त्र हो गया और रामानन्द उसके गुरु हुए। यह मनुष्य हिन्दुस्थानका प्रसिद्ध ज्ञानी

साधु कबीर था जो जातिका जुलाहा था और जिसे हिन्दू-मुसलमान-में किसी भी तरहका भेदभाव न था।

रामानन्दकी ही शिष्यपरम्परामें मीराबाई, तुलसीदास आदि हुए। तुलसीदासकृत रामायण उत्तर हिन्दुस्थानमें घर घर प्रेमसे गाई जाती है।

भाषा शाखा है सही संस्कृत सोही मूल।
मूल रहत हैं धूलमें शाखामें फल फूल॥

पददलित=पैरसे पिचा हुआ। उद्गार=अचानक बोले हुए शब्द।

---

[१०]

ईश्वर सर्वशक्तिमान है

गुरुजी विद्यार्थियोंको सैर करानेके लिये गांवके बाहर ले जाते हैं। यह सावनका महीना है। रातको मेह बरसनेसे जङ्गलकी झाड़ियां उदय होते हुए सूर्यके प्रकाशमें हरीभरी नजर आती हैं। आसपासके खेतोंमें बाजरेके डंठल निकल आये हैं। चारों ओर सृष्टि-सौन्दर्य और प्रभुकी महिमाके सिवा और कुछ नहीं दीखता। ऐसे ही समयमें और ऐसे ही स्थलमें बालकोंको धर्मका शिक्षण करना चाहिये। गुरुजी ऐसे प्रसङ्गपर कभी न चूक सकते थे। खेतकी मेंड़के पास ऊंची भूमि थी, जहां सब खड़े हो गये। एक विद्यार्थी चारों ओर नजर फेरकर स्वाभाविक रीतिसे बोल उठा "अहा यह सारा कैसा सुन्दर दृश्य है!" सबके हृदय आनन्दसे

उछलने लगे, सबने हृदयसे ईश्वरको नमस्कार किया। गुरुजीने धर्म-शिक्षणका काम आरम्भ किया।

गुरुजी—बालको! आजसे हम हिन्दूधर्मके तत्त्वोंके विषयमें बात-चीत शुरू करेंगे और इसमें हमारा पहला विषय ईश्वर होगा। कारण कि ईश्वरपर और उस ईश्वरको हम कैसा मानते हैं, इसपर ही हमारे धर्मका और उसके स्वरूपका आधार है।

उपनिषद्में ईश्वरकी व्याख्या इस प्रकारसे की गई है:—

जिसमेंसे ये समस्त पदार्थ उत्पन्न होते हैं, जिसके द्वारा उत्पन्न होकर ये जीवित रहते हैं, जिसके प्रति ये जाते हैं, जिसमें इनका प्रवेश होता है, वही ईश्वर है।"

ये चन्द्र, सूर्य, तारागण उसके तेजहीसे प्रकाशमान हैं। हरेक पदार्थ अपने अपने स्थानमें रहकर अपना कार्य्य कर रहा है। यह रचना, यह प्रताप परमेश्वरका ही है। परन्तु इस विश्वके तरह तरहके पदार्थोंमें वह भांति भांतिके रूपसे दिखाई देता है। देखो, इस पृथ्वीमें हम बीज बोते हैं, बरसातका पानी उसे सींचता है, सूरज गरमी देता है, तत्पश्चात् उसपर ऋतुओंकी वायु चलती है। फिर बीजमें अंकुर उत्पन्न होता है, अंकुरमें डंठल उगते हैं, यह सब कौन करता है?

हरिलाल—ईश्वर करता है।

मतिलाल—गुरुजी महराज! क्या यह नहीं कह सकते कि इस पृथ्वीको सूर्य, पवन आदि हरामरा करते हैं?

गुरुजी—ऐसा कह सकते हैं, किन्तु इन सब पदार्थोंमें जो शक्ति

है वह ईश्वरकी है। परमात्माके बिना ये पदार्थ कुछ भी नहीं कर सकते। इन पदार्थोंको और इनमें बसनेवाली ईश्वरकी शक्तियोंको 'देव' कहा करते थे। ईश्वर तो सब देवताओंका देवता है, सब शक्तियोंकी शक्ति है इस बातपर मैं एक छोटीसी कथा कह सुनाता हूं। पूर्व समयमें दैत्य और देवोंका युद्ध हुआ, उसमें अपने परमाराध्य देव ईश्वरके बल-भरोसे देवता लोग जीते। वास्तवमें यह ईश्वरकी ही जीत थी, किन्तु देवता लोग तुच्छ अभिमानसे फूल गये और यह मानने लगे कि यह हमारी ही जीत है—हमारी ही महिमा है। ईश्वर इसे जान गये और एक यक्षका रूप धारण कर सामने आ खड़े हुए। देवता लोगोंने उन्हें पहचाना नहीं। ये परस्पर विचार करने लगे कि यह कौन होगा। किसीको कुछ न सूझ पड़ा। फिर उन्होंने अपनेमेंसे एक अग्निदेवसे कहा:— "अग्निदेव! तुम जाओ, तुम्हें तीनों लोक जाने हुए हैं, तुम निश्चय करो कि यह कौन है?" अग्निदेवने कहा:—"अच्छा।" फिर अग्निदेव उस यक्षरूपधारी ईश्वरके समीप गये। यक्षने उनसे पूछा, "तुम कौन हो?" अग्निदेवने जवाब दिया—"मैं अग्नि हूं।" यक्षने पूछा, "तुझमें क्या शक्ति है?" अग्निने उत्तर दिया, "मुझमें तो ऐसी शक्ति है कि मैं यह जो कुछ पृथ्वीपर नजर आता है, इस सबको जलाकर भस्म कर सकता हूं।" यक्षने उसके पास तृण रखकर कहा, "इसे जलाओ।" अग्निदेव इस तिनकेपर अपने भरसक बलसे दौड़े, किन्तु इतनेसे तिनकेको वह जला न सके। अग्निदेव हार मानकर वहांसे लौटे और देवताओंके पास जाकर कहा, "यह यक्ष कौन है, इसे मैं न जान सका।" फिर देवताओंने वायुदेवसे कहा, "वायुदेव!

तुम जाकर निश्चय करो कि यह यक्ष कौन है।" वायुदेवने कहा, "अच्छा।" वायुदेव उस यक्षके पास गये। यक्षने पूछा, "तुम कौन हो? वायुदेवने जवाब दिया, "मैं वायु हूं।" यक्षने पूछा, "कहो तुममें क्या शक्ति है?" वायुदेवने उत्तर दिया कि मैं पृथ्वीपरकी सभी वस्तुओंको खींचकर ले जा सकता हूं। यक्षने उनके पास तिनका रखकर कहा, "लो इसे खींच ले जाओ।" वायुदेव उसपर बड़े वेगसे झपटे, किन्तु इतनेसे तिनकेको वह न उड़ा सके। वायुदेव लौटे और देवताओंसे जाकर कहा; "यह यक्ष कौन है; इसे मैं न जान सका।"

फिर देवताओंने इन्द्रसे कहा, "इन्द्र महाराज! तुम जाओ और यक्षका पता लगाओ।" इन्द्रने कहा, "अच्छा।" इन्द्र उस यक्षकी तरफ दौड़े, किन्तु वह यक्ष अन्तर्ध्यान हो गया, और जहां यक्ष खड़ा था वहां एक स्त्री खड़ी हुई देख पड़ी। इसका नाम उमा था और वह बहुत रूपवती थी। इन्द्रने उससे पूछा, "यहां जो यक्ष खड़ा था, वह कौन था?" उसने कहा, "वह स्वयं ईश्वर था। उस ईश्वरकी जयसे ही तुम्हारी जय है, उसकी महिमासे ही तुम्हारी महिमा है।" इन्द्रने ईश्वरको जानकर देवताओंसे उस बातको कह डाला।

इस प्रकार गुरुजीने बालकोंसे एक प्राचीन कथा कही और पूछा, "बालको! इस कथासे तुम क्या समझे?" बालकोंमेंसे वसन्तलालने उत्तर दिया, "ईश्वर ही सर्वशक्तिमान है, अग्नि, वायु आदि इस जगत्में जो जो बलवान् पदार्थ देख पड़ते हैं, वे सब ईश्वर हीकी शक्तिसे अपना अपना काम करते हैं।"

गुरुजी—ठीक, कहो अब किसीको और कुछ पूछना है?

मतिलाल—गुरुजी महाराज ! ये सब पदार्थ किसमेंसे उत्पन्न हुए होंगे ?

गुरुजी—तुम्हारा सवाल अच्छा है, किन्तु उसके जवाब देनेके लिये काफी समय नहीं रहा, इसलिये इस सवालको हम कल ले सकेंगे।

अन्तर्ध्यान=लोप हो जाना।
महिमा=महत्त्व।
उमा=इस विश्वमें दिखाई देनेवाली ईश्वरकी सुन्दर शक्ति।
सृष्टि-सौन्दर्य=प्रकृतिकी सुन्दरता, कुदरतकी खूबी।
धर्म-शिक्षा=धर्मका उपदेश।
देव=चमकती हुई ईश्वरकी शक्ति।
यक्ष=मनुष्य और देवताओंके बीचके दरजेके जीव।

---

[११]

सारे पदार्थ ईश्वरके ही रूप हैं।

आज एक बड़े बरगदके वृक्षके नीचे धर्मके शिक्षणके लिये कक्षा बैठी है। प्राचीन कालमें जब ऋषिलोग आश्रम बनाकर रहते और सैकड़ों विद्यार्थियोंको अपने आश्रममें बसाते, पालते और विद्या पढ़ाते थे तब बहुत बार ऐसे किसी वृक्षके नीचे गुरुशिष्यकी मण्डली बैठा करती थी और उनके बीचमें सवाल जवाब चलते थे।

गुरुजी—कल मतिलालका क्या प्रश्न था ?

मतिलाल—परमेश्वरकी ही शक्तिसे यह समस्त विश्व चलता है, पर इस जगत्को परमेश्वरने किस वस्तुमेंसे पैदा किया ?

गुरुजी—अपनेमेंसे। उसे जगत्‌को सृष्टिके लिये बाहर कुछ भी लेने नहीं जाना पड़ता है। घर बनानेवालेको पत्थर, मिट्टी, लकड़ी आदि लेने जाना पड़ता है ; क्योंकि ऐसे कामके लिये परमेश्वरने जो साधन रखे हैं, उनका ही केवल उपयोग वह कर सकता है। उसकी शक्ति परमेश्वर जैसी अनन्त-अमेय नहीं कि उसे बाहरके साधनोंकी आवश्यकता न हो, किन्तु परमेश्वर तो अतुल शक्तिशाली होनेसे सब कुछ अपनेमेंसे उत्पन्न कर सकता है। इस प्रसङ्गके अनुसार मैं एक प्राचीन पुस्तकमेंसे कथा कहता हूं, तुम उसे सुनो :—

पूर्वकालमें ऐसे ही एक बरगदके नीचे उद्दालक नामक ब्राह्मण कुटी बनाकर रहता था। ब्राह्मण विद्वान् था, पर उसके लड़केका जी पढ़नेमें न लगता था। आठवें वर्ष उसका जनेऊ हुआ। जनेऊ होते ही तुरन्त गुरुके घर जाकर विद्या पढ़ना, यह अपना पुराना रिवाज था। किन्तु यह लड़का बारह वर्षका होनेतक भी गुरुके घर न गया। एक दिन पिताने खिन्न होकर श्वेतकेतु (उस बालक का नाम था) को अपने सामने बिठाकर कहा, "भाई, अबतक हमारे कुलमें कोई भी बिना पढ़ा-लिखा नहीं रहा, केवल ब्राह्मण-जातिका होनेके कारण ही ब्राह्मण कहा जाय, ऐसा कोई भी हमारे कुलमें नहीं हुआ। तू बड़ा हुआ, बारह वर्षका हुआ, अब तो तू गुरुके घर जाकर विद्या पढ़ आवे तो अच्छा हो।" इन कोमल, किन्तु प्रभावशाली शब्दोंसे उस बालकके मनपर बहुत असर हुआ और वह गुरुके पास विद्या पढ़ने परदेश गया। बारहसे चौबीस वर्षतक गुरुके घर रहा और अनेक तरहकी विद्या उसने भलीभांति सीखी। जब वह विद्या पढ़कर घर आया, तब श्वेतकेतु तो मानों

पहलेका श्वेतकेतु ही न रहा। पहले वह अपढ़ और दहूई था, पर अभिमानी न था। इसके बदले वह अब विद्वान्, गम्भीर, किन्तु अभिमानी हो गया। पिताने देखा कि लड़का कितनी ही विद्याओंमें निपुण हो गया है, पर उसे अभी सच्चे धर्मका— ईश्वरके ज्ञानका—शिक्षण नहीं मिला। इसलिये पिताने उसे पास बिठाकर पूछा, "श्वेतकेतु! तेरी बुद्धि तो बहुत तीक्ष्ण हो गई है, तू विद्या पढ़नेका अभिमान भी बहुत रखता है और घमण्डी भी प्रतीत होता है। देख, मैं तुमसे एक प्रश्न पूछता हूं, जिसका उत्तर दे। तूने कभी अपने गुरुसे प्रश्न किया कि गुरुजी! ऐसा कौन पदार्थ है कि जिसके एकमात्र जाननेसे सब कुछ जाना जा सके?" श्वेतकेतुने जवाब दिया, "पिताजी! एकके जाननेसे यह सब कुछ किस रीतिसे जाना जा सकता है?" पिताने कहा, देखो भाई, मिट्टी है। इस एक मिट्टीको यदि पूर्ण रूपसे जान लें तो मिट्टीके जो जो पदार्थ होते हैं—घड़ा, दिवाल; ईंट इत्यादि—उन सबको हम जान सकते हैं। कारण यह कि मिट्टीके बने हुए ये सारे पदार्थ भिन्न-भिन्न नाममात्र हैं, खरी वस्तु तो मिट्टी ही है। इस प्रकार भाई, लोहा क्या वस्तु है, यह यदि हम ठीक समझ लें तो लोहेके बने हुए पदार्थ हमारी समझमें आ जायंगे। कारण कि लोहेके भिन्न भिन्न पदार्थ तो नाम-मात्र ही हैं, खरी चीज तो लोहा ही है।"

श्वेतकेतु—"पिताजी! तो मेरे गुरुओंने ऐसा तो कोई भी पदार्थ नहीं बतलाया कि जिसके जाननेसे सब कुछ जाना जा सके। मुझे मालूम होता है कि उस वस्तुको वे गुरुजन स्वयं न जानते होंगे। यदि वे जानते होते तो वे मुझसे क्यों न कहते? अतएव; पिताजी,

आप ही मुझको बतलाइये।" पिताने कहा, "यह पदार्थ तो वह परमेश्वर ही है। जैसे मिट्टीका घड़ा, सोनेके आभूषण, लोहेकी छुरी, तलवार इत्यादि—वैसे ही ये सब पदार्थ परमेश्वरके ही बने हुए हैं। परमेश्वरको इच्छा हुई कि "मैं एक हूं और बहुत हो जाऊं" और इस प्रकार इच्छा कर उसने स्वयं तेज, जल आदि रूप धारण किये—और यह सृष्टि हुई।" फिर पिताने पुत्रको परमेश्वर-सम्बन्धी विशेष ज्ञान दिया। कोरी विद्या पढ़कर पुत्र अभिमानी हो गया था, पर परमेश्वर-सम्बन्धी ज्ञानसे वह नम्र बना और उसने सभी जानने योग्य वस्तुको पहचाना।

कक्षा=क्लास।
अमेय=जो मापा न जा सके।

---

[१२]

ईश्वरकी सत्ता जगत्के भीतर और बाहर भी है

दूसरे दिन भी उसी झाड़के नीचे धर्मशिक्षणकी कक्षा बैठी। झाड़की छाया घनी थी और पवन भी धीरे धीरे चलता था। अतः यह स्थान खुली हवामें बैठकर काम करनेके लिये अच्छा था। इसके अलावा हमारे ऋषिलोग प्राचीन कालमें ऐसे ही झाड़ोंके नीचे बैठकर परमेश्वर-सम्बन्धी विचार किया करते थे, यह जानकर लड़कोंको यह स्थान विशेष प्रिय लगने लगा।

बालक—गुरुजी महाराज! क्या हम आज भी कलके बरगदके पास न जायंगे?

गुरुजी—चलो, तुम्हारा मन यदि वहां जानेका है तो वैसा ही करो।

सब वटकी छायामें जा बैठे। जैसे ईश्वरमेंसे यह समस्त सृष्टि फैलती है, वैसे ही वड़मेंसे छोटे छोटे वटवृक्ष निकले हुए थे। वड़पर बहुतसे फल निकल रहे थे, जिन्हें असंख्य पक्षी बैठ खा रहे थे और वड़के नीचे भी पवन और पक्षियोंसे गिराये हुए सैंकड़ों फल बिखरे हुए थे।

गुरुजी—कलकी वातोंमेंसे किसीको कुछ पूछना हो तो पूछो।

मतिलाल—गुरुजी महाराज! श्वेतकेतुके पिताके कथनानुसार यदि ये सब पदार्थ परमेश्वरके ही बने हुए हों तो ये पदार्थ ही परमेश्वर हैं।

गुरुजी—नहीं, ऐसा नहीं। ये पदार्थ परमेश्वरके रूप तो हैं, किन्तु ये पदार्थ परमेश्वर नहीं। जो इस पृथ्वीमें रहता है, किन्तु जिसे पृथ्वी जानती नहीं, पृथ्वी जिसका शरीर है, जो पृथ्वीके भीतर रहकर इसे चलाता है, वही परमेश्वर है। जो जलमें रहता है, जो वायुमें रहता है, जो चन्द्र सूर्य तारे, पशु-पक्षी-मनुष्य इत्यादि ब्रह्माण्ड में भरपूर इन असंख्य पदार्थोंमें रहता है, किन्तु ये पदार्थ जिसे जानते नहीं—ये पदार्थ जिसके शरीर हैं, इन पदार्थोंके भीतर रहकर इन्हें जो चलाता है—वही परमेश्वर है।

तथापि मैंने जो मिट्टी और मिट्टीके वासनका दृष्टान्त दिया था, उसे सुनकर तुम्हें जो शङ्का हुई, वह उचित ही है। श्वेतकेतुको भी कदाचित् शङ्का हुई होगी। अतएव उसके पिताने दूसरा दृष्टान्त देकर वह शङ्का दूर की, वैसे मुझे भी करना उचित है। बालको! वह

बड़का फल ले आओ, (एक ले आया) और टुकड़े करो। टुकड़े कर देखो उसमें क्या है ? (एकने उसे तोड़ा और सब इकट्ठे होकर भीतर देखने लगे, उसके अन्दर छोटे छोटे दाने देख पड़े)

बालकोंने गुरुजीसे कहा—"गुरुजी ! इसमें तो छोटे छोटे दाने देख पड़ते हैं।" गुरुजी बोले—"अच्छा, अब उनमेंसे एक छोटा दाना लेकर टुकड़े करो और देखो उसमें क्या नजर आता है ?" बालकोंने एक दाना लेकर तोड़ा और देखा, लेकिन वह इतना सूक्ष्म था कि कुछ भी न दिखाई दिया। फिर बालक बोले—"गुरुजी ! इसके भाग करनेसे तो कुछ भी नहीं देख पड़ता।" गुरुजी बोले—"यह समझ लो कि जिसकी बाबत तुम ऐसा कहते हो कि कुछ नहीं देख पड़ता, उसमें ही पूरा बड़का झाड़ समा रहा है, और इसी प्रकार इस जगत्‌के अन्दर रहता हुआ भी जो देख नहीं पड़ता उसमें ही यह जगत् समा रहा है और उसमेंहीसे वह निकला है।"

हरिलाल—पहलेसे ही यदि पिताने मिट्टी और घड़ेके दृष्टान्त देनेके बदले यह बड़का दृष्टान्त दिया होता तो कितना अच्छा होता !

गुरुजी—मिट्टी और घड़ेका, सोने और सोनेके आभूषणोंका, लोहे और लोहेके शस्त्रोंके दृष्टान्त देनेका मतलब यह है कि उन उन वस्तुओंकी बनी हुई चीजोंको चाहे जितना तोड़ो-फोड़ो तो भी जिन पदार्थोंसे वे बनी हैं, वे पदार्थ तो हमेशा कायम रहेंगे। घड़ा फूट जायगा, पर मिट्टी नहीं फूटेगी ; आभूषण टूट जायँगे, लेकिन सोना ज्योंका त्यों रहेगा। इसी प्रकारसे यह जगत् परमेश्वरका बना हुआ है और यदि इसके टुकड़े टुकड़े भी हो जायँ तो भी परमेश्वरका नाश न होगा। लेकिन यदि यह बड़ सूख जाय वा जल जाय तो

इसके बीज न रहेंगे। लेकिन वड़ और बीजके दृष्टान्तमें इतनी ही कमी है कि ये बीज और वड़ अलग किये जा सकते हैं, किन्तु इस प्रकार परमेश्वर और सृष्टिको एक दूसरेसे जुदा नहीं किया जा सकता।

हरिलाल—इस दृष्टान्तमें एक कमी, दूसरेमें दूसरी कमी, क्या खूब!

गुरुजी—ठीक, कोई भी दृष्टान्त परमेश्वरके विषयमें पूर्ण रूपसे लागू नहीं होता, यह इस बातसे मालूम होता है। हम जो जो दृष्टान्त लेते हैं, वे उसके स्वरूपको कुछ कुछ जैसे-तैसे समझानेके लिये काफी होते हैं।

शङ्का=शक।	ब्रह्माण्ड=विश्व।
दृष्टान्त=मिसाल।	सूक्ष्म=बारीक, अति छोटा।

[१२]

ईश्वर देखनेमें नहीं आता, पर वह अनुभवगम्य है

बालक—गुरुजी महाराज! ईश्वर देख नहीं पड़ता, तो भला वह कहां रहता होगा?

गुरुजी—इस जगत्‌के कण कणमें वह व्याप्त है। इस बातको श्वेतकेतुके पिताने श्वेतकेतुको एक अच्छे दृष्टान्त द्वारा समझाया है। पिताने कहा—"भाई उस पानीमें एक नमककी डली डालो और प्रातःकाल उसे मेरे पास ले आओ।"

श्वेतकेतुने ऐसा ही किया और दूसरे दिन सुबह नमकके पानी-का प्याला लेकर पिताके पास गया। पिताने कहा—"श्वेतकेतु! जिस नमककी डलीको तुमने पानीमें डाला है, उसे लाओ।" श्वेत-केतुने पानीमें हाथ डालकर देखा, लेकिन वह डली उसे न मिली; क्योंकि वह बिल्कुल गल गई थी, इसलिये उसने कहा—"पिताजी! वह तो नहीं है।" पिता—"अब तुम इस पानीको ऊपरसे चखो और कहो कि कैसा लगता है?" श्वेतकेतुने चखकर कहा कि यह खारा है। पिता—"बीचमेंसे आचमनी डालकर निकालो और चखकर इसका स्वाद बतलाओ।" श्वेतकेतुने इसे भी खारा ही बताया। पिताने फिर पूछा कि नीचेसे चखकर इसका स्वाद बत-लाओ। फिर भी उसने खारा ही कहा। पिता—"उस नमकको निकालकर मेरे पास लाओ।" श्वेतकेतु—"वह कैसे निकल सकता है, वह तो पानीमें नित्य घुला ही हुआ रहेगा।" पिता—"तो इसी प्रकार समझो कि परमेश्वर यहीं है, तथापि तुम यह देख नहीं सकते कि वह यहीं है। केवल चखनेहीसे, उसके रस लेनेहीसे वह मालूम होता है। अर्थात् परमेश्वर आंखसे देखनेमें नहीं आता, पर उसका अनुभव हो सकता है और इस रीतिसे वह है, यह हमें निश्चय हो जाता है।"

मणिलाल—गुरुजी! इस बातमें नमकके बदले शक्कर कहा होता तो कैसा अच्छा होता!

गुरुजी—बहुत ठीक! परमेश्वर शक्कर जैसा मीठा है, पर तुम्हीं जरा कहो कि शक्करकी अपेक्षा क्या नमक कुछ कम स्वादु है?

मणिलाल गुरुजीका कहना समझ गया और निरुत्तर होकर

कहने लगा—"गुरुजी! नमक बिना तो सारी रसोई फीकी लगती है। रसोईमें मिठाई बिना काम चल सकता है।"

---

[१४]

ईश्वर एक वा अनेक हैं

गुरुजी—बालको! आजतक तुम हिन्दूधर्मके शास्त्रानुसार ईश्वरके सम्बन्धमें इतनी बातें जान चुके हो—

(१) इस विश्वमें सारी शक्ति केवल ईश्वरहीकी है—यक्ष और देवताओंकी बात याद करो, जो अध्याय १० में पीछे वर्णन हुआ है।

(२) सब कुछ उसीसे बना है, उसमेंसे ही उत्पन्न हुआ है, उसमें ही स्थित है और अन्तमें उसीमें समा जाता है, जैसे मिट्टी और घड़ा, सोना और गहना।

(३) किन्तु जो पदार्थ दीखते हैं, वे ईश्वर नहीं। वह तो इन पदार्थोंके अन्दर व्याप्त है। पर वह दृष्टिगोचर नहीं होता, जैसे बड़के पेड़के सूक्ष्म बीज।

(४) यद्यपि इस दृष्टिसे तो वह देखा नहीं जाता, लेकिन यदि चाहें तो उस वस्तुका रसास्वादन किया जा सकता है, जैसे जलमें मिश्रित नमक वा शक्करका।

अब कहो, ईश्वरके विषयमें और क्या जानना चाहते हो?

रमाकान्त—गुरुजी महाराज! ईश्वर एक है अथवा अनेक?

गुरुजी—ईश्वर एक है। यह सारा विश्व एक है, इसके सब पदार्थ इकट्ठे रहते हैं, एक दूसरेके साथ गुथे हुए हैं और एक ही रचनाके अङ्ग हैं। देखो, इस सरोवरमें एक कङ्कड़ डालो, पानीकी

कैसी लहरें उठती दीखती हैं ! एक जगह पानी हिलता है, लेकिन उस हलचलका असर सारे सरोवरमें फैल जाता है। तुमने बड़े शहरोंमें एकाध कपड़े बनानेका कारखाना तो देखा ही होगा। न देखा हो तो यह नन्हीसी घड़ी ही देखो। इसमें चक्र कैसे एक दूसरे-के साथ जुड़े हुए हैं—एक फिरता है तो दूसरा फिरता है, दूसरा फिरता है तो तीसरा फिरता है। इस प्रकार इस विश्वको भी समझना चाहिये। सूर्य, चन्द्र, तारा, पृथ्वी एक दूसरेसे लाखों और करोड़ों योजन दूर हैं, तथापि ये सब एक ही घड़ीके चक्र हैं, और इस कारण इन सबका रचनेवाला एक ही होना चाहिये। एक न हो तो इन सबके बीच कितना गड़बड़ मच जाय ? अभी ये सब चक्र तो फिरते हुए देख पड़ते हैं तो भी इनको एक दूसरेसे अलग कर सकते हो। किन्तु अपने शरीरके जो अवयव हैं, उनका काम एक दूसरेसे बिल्कुल जुदा है तो भी वे एक दूसरेसे जुदे नहीं किये जा सकते। सब मिलकर एक ही काम करते हैं। सभी मनुष्यके जीवनकी सेवा कर रहे हैं। वे किसके द्वारा ऐसा करते हैं ? जैसे अपने शरीरके अवयव इकट्ठे रखकर चलानेवाली एक आत्मा है, वैसे ही यह विश्व और इसमें विराजमान परमात्मा है।

इस कारण हिन्दूधर्मके शास्त्रोंने इस विश्वको परमेश्वरका शरीर बतलाया है, और परमेश्वर उसके अन्दर बसनेवाला जीवन कहा गया है। उस महान् पुरुषके हजारों मस्तक हैं, हजारों आँखें हैं, हजारों पैर हैं। यदि दूसरे प्रकारसे यह बात कहें तो यह आकाश उसका सिर है, ये सूर्य चन्द्र उसकी आँखें हैं, यह वायु उसका श्वासोच्छ्वास है, इत्यादि।

रमाकान्त—तब तो परमेश्वर बड़े दैत्यके सदृश हुआ ?

गुरुजी—नहीं, परमेश्वर बड़ा है, लेकिन वह दैत्य जैसा नहीं। मैंने तुमसे कुछ दिन पहले जो कुछ कहा था, वह तुम भूल गये। परमेश्वरके वर्णन करनेके लिये हम ये जितने दृष्टान्त लेते हैं, उतने अधूरे हैं। हमने इस विश्वको परमेश्वरका शरीर और परमेश्वरको इसमें बसनेवाला जीव बतलाया, इसका अर्थ यह है कि इस अखिल विश्वमें बसनेवाला परमेश्वर एक है, वह सब पदार्थोंको इकट्ठा रख, सबके अन्दर रहकर सबका सञ्चालन करता है। जैसे हमारे शरीर में जीव, वैसे परमेश्वर अखिल विश्वमें प्रविष्ट है।

रसास्वादन=रसका चखना।	मिश्रित=मिला हुआ।
योजन=आठ मील, अवयव=अङ्ग।	श्वासोच्छ्वास=साँस, प्राण।
सञ्चालन=चलाना।	प्रविष्ट=व्याप्त।

---

[१५]

तेतीस करोड़ देवता

गुरुजी महाराज ! आप कहते हैं कि हिन्दूधर्ममें परमेश्वर एक है, तो तेतीस करोड़ देवता क्यों कहे जाते हैं ?

गुरुजी—परमेश्वर एक है, किन्तु उसके प्रकाशके स्थान असंख्य हैं। इस विश्वके सूर्य, तारे और पृथ्वी आदि अगणित पदार्थोंमें उसकी अगणित शक्तियां प्रकाशमान हैं। अतएव करोड़ों देवता हैं, यह कहा जाता है।

मतिराम—गुरुदेव ! विश्वके समस्त पदार्थोंमें परमात्माकी

शक्तियां स्फुरित हो रही हैं, इस भावकी सुन्दर कविता मुझे याद आती है :—

विमल इन्दुकी विशाल किरणें प्रकाश तेरा दिखा रही हैं।
अनादि तेरी अनन्त माया जगतको लीला दिखा रही हैं॥
तुम्हारा स्मित हो जिसे निरखना वह देख सकता है चन्द्रिकाको।
तुम्हारे हँसनेकी धुनमें नदियां निनाद करती ही जा रही हैं॥

गुरुजी—यह कैसा सुन्दर भाव है! वस्तुतः ईश्वरका ऐश्वर्य विश्वकी इन सब वस्तुओंमें देखनेमें आता है। उसका प्रतिबिम्ब सभी पदार्थोंमें झलकता है। वह एक है किन्तु अनेक रूपोंसे प्रकट हो रहा है। इस बातके समझ लेनेपर हिन्दूधर्ममें "तेतीस करोड़" देवता क्यों कहे जाते हैं, इस प्रश्नका उत्तर कुछ कठिन प्रतीत नहीं होता। ये देवता एक परमात्माके ही अनेक रूप हैं। करोड़के लिये मूल संस्कृत-शब्द 'कोटि' है। कोटि शब्द वर्ग वा प्रकारके अर्थमें भी प्रयुक्त होता है। १२ आदित्य कहे जाते हैं, ११ रुद्र, ८ वसु, और देवताओंके राजा इन्द्र १, और उत्पन्न हुई वस्तुमात्रके पति, स्वामी, प्रजापति १, इस प्रकार मिलकर ३३ होते हैं। करोड़ 'कोटि'—देवता, इस वाक्यका यह अर्थ है कि देवताओंकी कुल संख्या ३३ है, अर्थात् वे तेतीस प्रकारके हैं।

लड़के 'तेतीस करोड़ देवताओं' का यह अर्थ जानकर अचम्भेमें हुए और उन्हें यह मालूम हुआ कि लोग इस विषयमें कितने अनभिज्ञ हैं! सब अपने अपने मनकी शंकाओंका समाधान गुरुजीसे करानेके लिये उत्सुक हुए।

अगणित=जो गिने न जायं। निनाद=शब्द।
स्फुरित=प्रकट होना। प्रतिबिम्ब=छाया।
स्मित=मुसक्यान। अनभिज्ञ=अज्ञान।

---

[१६]

त्रिमूर्त्ति—ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र (शिव)

रमाकान्त नामका एक चतुर लड़का था, उसने दूसरे दिन धर्मोपदेश शुरू होते ही एकदम गुरुजीसे प्रश्न पूछा।

गुरुजी ! हमारे धर्ममें शिव, विष्णु आदि जुदे जुदे देवता कहलाते हैं, इसका क्या कारण है ?

गुरुजी—यह अच्छा प्रश्न पूछा गया है। हम लोगोंमें कितने ही ऐसे कट्टर वैष्णव होते हैं कि जो "शिव" शब्दका भी प्रयोग नहीं करते; क्योंकि उसमें शिवका नाम ले लिया जाता है। इसी प्रकारसे बहुतसे शैव भी विष्णुकी निन्दा करते हैं। यह बहुत खोटी बात है। मद्रास प्रांतमें कभी कभी अज्ञान और स्वार्थसे शैव और वैष्णवोंमें बड़े झगड़े हुए थे। इस कारण अपने शास्त्रोंमें शिव और विष्णुकी निन्दाके पिछले समयके मिलाये हुए श्लोक आ गये हैं, उन्हें हमारे कितने ही अज्ञानी भाई शास्त्र समझते हैं। अब मैं तुम्हें इस सम्बन्धमें ठीक ठीक बात बतलाता हूं, पर विषय कुछ कठिन है, इसलिये ध्यानपूर्वक सुनोः—

कुछ समय पहले मैंने तुम्हारे सामने 'ईश्वर' शब्दकी व्याख्या की थी, जो कदाचित् तुम्हें याद होगी। "जिसमेंसे ये

सब पदार्थ उत्पन्न होते हैं, जिसमेंसे उत्पन्न होकर जीते हैं और जिसके प्रति जाते हैं, जिसमें प्रवेश करते हैं वह परमात्मा है।"

गतिर्भर्त्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं वीजमव्ययम्॥

श्रीमद्भगवद्गीता अ० ९ श्लोक १८

इस व्याख्यामें परमेश्वरसम्बन्धी तीन बातें हैं (१) एक तो यह कि वह जगत्का स्रष्टा है, और (२) दूसरी यह कि वह इसकी रक्षा करता है, और (३) तीसरी यह कि वह इसका संहार करता है, अर्थात् अपनेमें मिला लेता है। उत्पत्ति, रक्षण और संहार वा लय, इन तीन क्रियाओंको लेकर परमेश्वरके तीन रूप वर्णन करनेमें आते हैं :—

(१) एक ब्रह्मा, अर्थात् जिस परमेश्वरमेंसे यह विश्व बढ़ता है, उदित होता है और फलता है।

(२) दूसरे विष्णु, अर्थात् जो परमेश्वर इस जगत्में आत्म-रूपसे प्रविष्ट हो इस जगत्की रक्षा करता है। रक्षाके निमित्त वह अवतार भी लेता है।

(३) तीसरे रुद्र, अर्थात् जो परमात्मा प्रलयके तूफान और अग्निके रूपसे इस जगत्का संहार करता है, पर कितने ही कहते हैं कि यह जगत् स्वयं ही तूफानरूप है, और यदि यह शान्त हो जाय तो जिसमें यह शान्त होता है वह एक परमात्मा ही है। इसलिये रुद्रका ही दूसरा नाम शिव है, अर्थात् जो संहार करता है, वही सुख भी देता है। फिर तुम्हें याद होगा

कि वेदमें जो अग्नि है, वह सब वस्तुओंको जलाकर भस्म कर डालती है, पर साथ ही साथ घर घरमें बसकर सबको वह सुख भी देती है। यह शुभ कल्याणकारी अग्नि ही शिव है। अग्निकी सीधी ज्वाला, वही शिवकी मूर्त्ति (शिव-लिङ्ग) है। अग्निकी ज्वालाके साथ धुएंकी काली-पीली लटें, वे ही शिवजी-की जटा हैं, अग्निके पधरानेकी वेदी (कुण्ड) यह शिवजीकी जलाधारी है, और अग्निमें हवन किया हुआ घी तो शिवजीकी मूर्त्तिपर पड़नेवाला जलका अभिषेक है। इस प्रकारसे वेदकी अग्निपूजा ही पुराणोंकी शिवपूजा है, और इसी कारणसे शैव-सम्प्रदायमें भस्म लगानेकी इतनी महिमा है।

स्रष्टा = रचनेवाला। संहार = नाश।

---

[१७]

गणपति और माता

त्वंहि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो।

ऋग्वेद।

अर्थः—हे अनन्त और सर्वव्यापी ईश्वर! आप ही हमारे पिता और आप ही हमारी माता हो।

कुछ दिन पहले गणपति-उत्सव हुआ था, उसके बाद नव-रात्रिके दिन आये, और फिर विजयादशमी तो कल हो चुकी है, इसलिये सबके मनमें गणपति, दुर्गा और राम-रावणके नाम रम रहे थे।

गुरुजी—बालको ! ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र (शिव), ये तीन जुदे जुदे देवता नहीं, पर एक ही ईश्वरके तीन विशेषण वा नाम हैं। यह तो तुमपर विदित ही है कि इनमेंसे विष्णु और शिवकी पूजा तो होती है, पर क्या तुमने ब्रह्माकी पूजा होते हुए देखी है ?

हरिलाल—नहीं महाराज ! कहते हैं कि केवल अजमेरके पास पुष्कर नामक एक तालाब है, जिसके किनारे एक सुन्दर सफेद पत्थरकी ब्रह्माकी मूर्त्ति है, जिसकी पूजा होती है।

गुरुजी—ठीक, पर मेरा कहना है कि तुम सबने थोड़े ही दिन पहले, ब्रह्माकी वा जिसके नाममें ब्रह्म शब्द आता है, ऐसे एक देवताकी पूजा होती हुई देखी है और शायद तुममेंसे कितनोंहीने पूजा की होगी।

यह सुन सब बच्चे अचम्भेमें पड़ गये और इस बातको न समझनेके कारण एक दूसरेकी तरफ देखने लगे।

गुरुजी—क्या तुमने थोड़े ही दिन पहले गणपति-उत्सव नहीं किया था ? यह गणपति-पूजा ब्रह्म व ब्रह्मणस्पति, इस नामके देवताकी पूजा है। परमेश्वरकी स्तुति-वेदके मन्त्र, यही 'ब्रह्म' शब्दका अर्थ है। हमारे ऋषियोंका मत है कि परमेश्वरकी स्तुतिद्वारा ही इस जगत्में हरेक वस्तु उत्पन्न होती है और बढ़ती है। इस कारण इस स्तुतिके देवता "ब्रह्म" ही इस सृष्टिके कर्त्ता हैं। उनका बड़ा नाम 'ब्रह्मणस्पति' (अर्थात् ब्रह्म—स्तुति-रूपी वाणीके—पति, देवता) है। इन ब्रह्मणस्पतिको वेदमें एक जगह 'गणोंका पति' गणपति, ऐसा विशेषण लगाया है, इसलिये

ब्रह्मणस्पति गणपति कहलाये। (गण = समूह) अर्थात् ईश्वरके स्तुतिरूपी वेद-मन्त्रोंके जो समूह—गण—उनके पति वे गणपति हैं। ईश्वरकी स्तुति करनेमें सब विघ्नोंका नाश होता है, इसलिये हर एक शुभ काम करनेके पहले गणपतिका पूजन वा स्मरण करनेमें आता है। पुस्तकमें भी पहले 'श्रीगणेशाय नमः' अर्थात् श्रीगणपतिको नमस्कार, यह लिखा जाता है। यात्रामें जानेपर उन्हींका स्मरण किया जाता है, और विवाह, जनेऊ आदि शुभ प्रसङ्गोंपर गणपतिकी स्थापनाके पश्चात् सब काम शुरू होता है। वाणीके पति ब्रह्मणस्पति विद्याके देवता हैं। अतएव गण-पति भी विद्याके देवता हैं। इस कारण जब हम बच्चोंको पाठ-शालामें बिठलाते हैं, तब हम विशेषरूपसे गणपतिहीका स्मरण करते हैं।

हरिलाल—गुरुजी! इसका निष्कर्ष यह है कि विद्याके देवताका स्मरण करनेसे सब विघ्न नष्ट होते हैं। यह कितना सुन्दर भाव है!

गुरुजी—ठीक है। हमारे शास्त्र कहते हैं कि यदि ईश्वरकी स्तुति करें और विद्या पढ़ें तो सब तरहकी अड़चनें दूर हो जाती हैं।

अब दूसरी बात सुनो। नवरात्रिमें देवीकी पूजा हुई थी। वह देवी तो परमेश्वरकी विश्वमें आजमान शक्ति है। उससे यह समस्त जगत् उत्पन्न हुआ है। इसलिये उसे हम 'अम्बिका' अथवा "माताजी" भी कहते हैं। उस परमेश्वरकी शक्ति तीन तरहकी है—एक तो विद्या, जिसे 'सरस्वती' कहते हैं, जो इस विश्वमें नदीकी

भांति बहती रहती है। दूसरी इस विश्वमें फैली हुई सुन्दरता है, जो ईश्वरका चिह्न है, जिसके कारण हमें ईश्वरका भान होता है, इस स्वरूपको 'लक्ष्मी' कहते हैं। इसके सिवाय इस विश्वमें सुन्दरताके साथ जो विकराल रूप देखनेमें आता है, जो ईश्वरकी प्रचण्ड शक्ति सब पदार्थोंका भक्षण करती है, वह उसकी तीसरी शक्ति है।

बालको ! बतलाओ कि वह कौनसी शक्ति है जो सारे पदार्थोंका भक्षण करती है ?

हरिलाल—काल।

गुरुजी—ठीक। तो सब जगत्को भक्षण करनेके लिये मुंह फाड़कर खड़ी हुई इस प्रभुकी तीसरी शक्तिका नाम 'काली' वा 'चण्डी' है, किन्तु जैसे रुद्र शिवरूप भी हैं वैसे ही 'काली' भी 'गौरी' हैं (गोरे शिवकी पत्नी, मङ्गलकारी परमेश्वरकी श्वेत उज्ज्वल शक्ति)।

इस प्रकार महाकाली, महालक्ष्मी और महासरस्वती, ये तीन प्रभुकी शक्तिके रूप हुए, और ये शिव वा रुद्र, विष्णु और ब्रह्मा, इन तीनोंकी तीन शक्तियां, कही जाती हैं। ब्रह्मा, यह वाणीके देवता और उनकी शक्ति सरस्वती वाणीकी देवी हैं।

जगत्में व्याप्त विष्णुकी पत्नी लक्ष्मीजी हैं। वे सुन्दरताकी मूर्त्ति हैं; और संहार करनेवाले ईश्वर रुद्र वा महाकालेश्वर, उनकी पत्नी महाकाली सब पदार्थोंका भक्षण करनेवाली शक्ति हैं।

हरिलाल—गुरुजी ! महाकालीको सिंह वा व्याघ्रपर बिठाते हैं। इसका कदाचित् यह कारण हो सकता है कि वे सबका भक्षण करनेवाली शक्ति हैं।

गुरुजी—ठीक यही बात है। और सरस्वतीको हंसपर बिठाते हैं। कवि लोग कहते हैं कि हंस मोती चुगता है, दूध और पानीको जुदाकर उसमेंसे दूध पी लेता है और पानी छोड़ देता है। इसी प्रकार सरस्वती अथवा विद्या, जो वस्तु सुन्दर और सत्य होती है, उसको ग्रहण करती है और जो खोटी और मैली होती है उसे छोड़ देती है। लक्ष्मीजीका गण उल्लू भी है, जिसका अर्थ यह है कि केवल लक्ष्मी हीके उपासक धनके मदमें अन्धे हुए रहते हैं।

निष्कर्ष=सार। भ्राजमान=प्रकाशमान।

---

[१८]

अवतार

गुरुजी—बालको! उस बालपुस्तकमें 'चन्द्रमा' की कविता है, क्या वह तुम्हें याद है?

बहुतोंको वह मधुर कविता याद थी, इसलिये उनमेंसे एक बोला:—

रमाकान्त—गुरुजी! मैं बोलूंगा—

"माई मोहि चन्दा प्यारो दे री
चन्दा प्यारो दे री माई मोहि चन्दा प्यारो दे री
नौ लख तारे बीन गगनते गोदीमें भर दे री
माई मोहि चन्दा प्यारो दे री"

बालकने यह कड़ी गाई। गुरुजीने कहा—"बस, अब यह कहो कि वह चन्द्रमाको गोदीमें रखकर उससे खेलना क्यों चाहता था ?—

कान्तिलाल—चन्द्रमा एक बहुत ही मनोहर वस्तु है।

गुरुजी—तो कहो, यदि ईश्वर भी तुम्हारे समीप हो तो तुम्हें अच्छा लगे वा नहीं ?

राधाकान्त—क्यों न अच्छा लगे ? यदि वह देख पड़े और उसके साथ बातचीत हो सके तो कैसा अच्छा हो ?

गुरुजी—विचारचन्द्र ! तुम क्या कहते हो ?

विचारचन्द्र—जो राधाकान्त कहता है, ठीक ही है, पर ईश्वर किस रीतिसे देखा जा सकता है, उसके साथ बातचीत कैसे हो सकती है ? वह कुछ इस मेज वा इस वृक्षके सदृश नहीं, जिसे हम अपनी दृष्टिसे देख सकें और बातचीत कर सकें।

गुरुजी—ठीक, अब मेरे दूसरे प्रश्नका उत्तर दो। ईश्वर कहां रहता होगा ? अपने पास वा दूर ?

विचारचन्द्र—वह हमारे समीप और हमसे दूर भी रहता है, दूरसे दूर तारोंमें और समीपसे समीप हमारे हृदयमें उसका वास है। कवि दलपतरायकी सुन्दर कविताका यही भाव है :—

आस पास आकाश मँह, अन्तर महँ आभास।
पात पातमें पाइये, विश्व पतिको वास॥
सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षि शिरो मुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥

गीता अ० १३ श्लो० ११

(अर्थ) उसके सब ओर हाथ पैर हैं, सब ओर आंख, सिर और मुंह हैं, सब ओर कान हैं, और वही इस लोकमें सबको व्याप रहा है।

ईशावास्य मिदꣳसर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।

यजुर्वेद अ० ४० मन्त्र १

अर्थ—इस संसारमें ऐसा कोई स्थान वा वस्तु नहीं है, जहां ईश्वर व्याप्त नहीं। सर्वत्र ईश्वर व्यापक है।

गुरुजी—तो वह क्यों नहीं देख पड़ता ?

विचारचन्द्र—कारण यह कि उसका शरीर नहीं।

गुरुजी—शरीर हो तो क्या वह देखनेमें आवे ?

विचारचन्द्र—हां, महाराज।

गुरुजी—लेकिन मेरा तो शरीर है ही, मैं तुम्हें कहां नजर आता हूं ?

विचारचन्द्र—यह आप दिखाई तो दे रहे हैं।

गुरुजी—यह तो मेरा शरीर दिखाई देता है।

विचारचन्द्र—लेकिन शरीरमें आप हैं न !

गुरुजी—तो इसी प्रकार समझो कि इस विश्वरूपी शरीरमें भी ईश्वर निवास करता है और इसलिये वह दूरसे दूर रहता हुआ हमारे समीपसे समीप है। उसका समीप आना ही उसका अवतार, अर्थात् नीचे उतरकर आना है। किन्तु इस विश्वमें उतरकर आना तो उसका सामान्य अवतार है, पर इसके सिवा उसके कितने ही विशेष अवतार भी होते हैं। प्रभु इस विश्वके कण कणमें व्याप्त है, तथापि हमारे ऐसे साधारण

मनुष्य उसे देख नहीं सकते; लेकिन जब वह अमुक पदार्थमें वा अमुक मनुष्यमें प्रकट होता है, तब हम उसे तुरन्त पहचान सकते हैं।

चुन्नीलाल—गुरुजी, वे पदार्थ वा मनुष्य कहां होंगे, जिनमें हम प्रभुका अवतार देख सकें ?

गुरुजी—इस विश्वमें जो जो वस्तु सुन्दर, प्रतापी और कल्याणकारी तथा अद्भुत शक्तिवाली हों, उन सभीमें।

चुन्नीलाल—तो जगत्के सभी बड़े बड़े पुरुषोंमें प्रभुका अवतार है ?

गुरुजी—हां।

विचारचन्द्र—लेकिन उनमें तो बहुतसे दुष्ट पुरुष भी होते हैं !

गुरुजी—ठीक, लेकिन दुष्टतामें बड़प्पन नहीं। बड़प्पन जगत्के कल्याण करनेमें है। अपने न्यायसे, ज्ञानसे, प्रेमसे, उपदेशसे इत्यादि बहुत रीतिसे जो दुनियापर उपकार करते हैं, उनमें ईश्वरका अवतार समझना चाहिये। ईश्वर कुछ ऊँचे आकाशमें बैठा हुआ इस जगत्को नहीं चलाता, वह तो हमारे अन्दर बसकर काम करता है। भगवद्गीतामें भगवान् कृष्ण कहते हैं कि जब जब धर्मका ह्रास होता है और अधर्म उठ खड़ा होता है, तब तब मैं सत्पुरुषोंके रक्षण करनेके लिये और दुष्टोंका नाश करनेके लिये, और इस रीतिसे धर्मको फिर स्थापन करनेके लिये अवतार लेता हूं। उस समय मैं मनुष्य-लीला करता हुआ दिखाई पड़ता हूं।

जगत्का रक्षण करना—यह काम विष्णु भगवान्का है।

इस कारण प्रायः विष्णुके ही अवतार माने जाते हैं। ऐसे अवतार दस अथवा (दूसरी संख्याके अनुसार) चौबीस कहे गये हैं। उनमेंसे कितने ही तो परमेश्वरके स्वरूप समझानेके लिये बनाये हुए दृष्टान्त हैं, जैसे कूर्मावतार। कछुआ जैसे अपने अङ्गको भीतर खींच लेता है और फिर फैला देता है, उसी प्रकारसे परमात्मा भी सृष्टिरूपी अङ्गको अपनेहीमें संकुचित कर लेता है और फिर उसे फैला देता है। कितने ही अवतार जगत्के लिये सिर्फ ज्ञान देनेवाले महापुरुष हैं, जैसे ऋषभदेव, कपिल, बुद्ध। कितने ही दुष्टोंका हनन कर जगत्की रक्षा करनेके लिये हैं, जैसे नरसिंह, परशुराम, राम और कल्कि, और कितने ही ज्ञान और रक्षण दोनोंहीके निमित्त होते हैं, जैसे कृष्ण।

---

[१६]

राम और कृष्ण

भक्तोंकी अभिलाषा पूर्ण करनेके लिये प्रभु अपनी मायासे लीलामय शरीर धारण किये हुए दिखाई देते हैं। जैसा कि गीतामें लिखा है :—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥

गीता अ० ४ श्लो० ६।

अर्थ—मैं सर्व प्राणियोंका स्वामी और जन्मरहित हूं।

श्रीकृष्ण

भगवान् बुद्धदेव

यद्यपि मेरे सर्वव्यापी आत्मस्वरूपमें कभी भी विकार नहीं होता, तथापि अपनी ही प्रकृतिमें अधिष्ठित होकर मैं अपनी मायासे जन्म लिया करता हूं।

विष्णुके सब अवतारोंमें राम और कृष्ण, ये दो अवतार मुख्य गिने जाते हैं। नारायण, वासुदेव इत्यादि नामोंसे भी विष्णुका भजन होता है, किन्तु वैष्णव पन्थका अधिक भाग राम अथवा कृष्णके नामहीसे विष्णुका भजन करता है।

वसुदेवके पुत्र वासुदेव-कृष्ण इस प्रकारका एक अर्थ है। किन्तु ईश्वररूपसे जब इसका अर्थ ग्रहण करना होता है, तब प्राणिमात्रमें बसनेवाला, प्राणिमात्रको बसानेवाला, और उसमें दीप्तिमान, प्रकाशमान परमात्मा, यही इस वासुदेव शब्दका अर्थ होता है।

राम—प्राणिमात्रमें रमण करनेवाले और उसे रमानेवाले प्रभुका नाम राम है। राम दशरथ राजाके पुत्र और सीताके पति थे। यह तो उनका स्थूल अवतार-रूप था। उस अवतारका चरित तुम सबने बहुत बार पढ़ा और सुना होगा, किन्तु उस अमृतको पीकर किसे परितृप्ति होती है? अतएव; हम उस चरित्रका संक्षेपमें फिर स्मरण करें। रामावतारमें रहकर प्रभुने पिताके वचनका पालन किया। भरतको राजसिंहासन सौंपकर स्वयं सीता और लक्ष्मणके साथ वे वनमें गये। जब रावण सीताको पञ्चवटीसे ले गया, तब उनकी खोजमें वे दक्षिणकी ओर चले, जहां सुग्रीव और हनुमानके साथ उनकी मैत्री हुई। हनुमान सीताजीकी खोजके लिये भेजे गये। वे

समुद्र पार कर लङ्कामें पहुंचे, जहां अशोकवाटिकामें, रात-दिन निरन्तर रामनामकी रटना करती हुई सीताजीको उन्होंने देखा। उनसे मिलकर हनुमान पीछे लौटे और सीताजीका सारा वृत्तान्त रामको कह सुनाया। समुद्रपर पुल बांधकर राम अपनी वानर-सेनाके साथ लङ्कामें उतरे, रावणके साथ युद्ध किया, रावणको मारा, रावणके भाई विभीषणको गद्दीपर बिठाया और सीताको ले अयोध्याको वापिस आये। वहां न्यायसे और प्रजाको सुखी रखकर उन्होंने राज्य किया, और समय पानेपर वे स्वधामकी ओर प्रस्थित हुए। एक वचन, एक पत्नीव्रत, धैर्य्य, न्याय और प्रजारञ्जन, इन गुणोंके लिये रामावतार प्रसिद्ध है।

कृष्ण—जब कभी धर्मकी अवनति और अधर्मका उत्थान होता है, तब साधु पुरुषोंकी रक्षाके लिये और दुष्ट पुरुषोंके विनाशके लिये जिसने अवतार लिया, उस प्रभुका नाम कृष्ण है। उनके अवतार सम्बन्धी जीवनके तीन भाग हैं-एक तो गोकुलके कृष्ण, दूसरा द्वारिकाके कृष्ण, और तीसरा अर्जुनके सखा; कुरुक्षेत्रके युद्धमें उनका सारथी बनना और ऐसी विषम अवस्थामें उन्हें उपदेश देना। परमात्माकी सच्ची भक्ति जैसी गोपियोंके प्रेममें थी वैसी ऋषियोंके यज्ञमें भी न थी, जैसी स्त्रियोंमें थी वैसी पुरुषोंमें न थी, जो अनेक देवताओंकी उपासनासे उत्पन्न नहीं हो सकती थी, वह अनन्य भक्ति एक प्रभुके शरणागत होनेहीसे हुई। गोकुलमें श्रीकृष्णजी १६ वर्ष-की आयुतक रहे। उतने समयमें वहांके गोप और गोपियोंके

साथ अनेक प्रकारकी बाललीला करते रहे, जिसको रासलीला भी कहते हैं। यथा—गाना, बजाना, खेलना, कूदना, नाचना और स्वांग बनाकर हंसी वगैरहसे विनोद करना और मल्ल-कुश्ती आदि व्यायाम करना, गो-चराना आदि यही गोकुल लीलाके उपदेश हैं। द्वारिकामें राज्य स्थापित कर यदुवंशियों-की राज-सत्ता चहुं ओर फैलायी, अपने गृहस्थाश्रमके धर्मोंका पालन किया, जरासन्ध आदि अन्यायी राजाओंको मारकर अनेक राजाओंको बन्दीगृहसे छुड़ाया इत्यादि, ये सब वृत्तान्त कृष्णके द्वारिकाके राजजीवनके हैं। पांडवोंके साथ सम्बन्ध और स्नेहके कारण युधिष्ठिरके राजसूययज्ञमें मेहमानोंके पाद-प्रक्षा-लनका काम विनयभावसे आपने अपने ऊपर लिया। कौरव-पांडवोंके युद्धके पूर्व, जहांतक हो सके, युद्ध न हो तो अच्छा, ऐसा विचार ठानकर दुर्योधनको समझाने वे स्वयं गये। दुर्योधनने न माना, युद्धकी तैयारियां हुईं।

दोनों सेनायें एक दूसरेके सम्मुख सजधजकर तैयार हुईं, कृष्ण अर्जुनके सारथी बने। किन्तु जिस घड़ी उन्होंने अर्जुनका रथ कौरव सेनाके सामने लाकर खड़ा किया, त्योंही अर्जुन अपने बन्धु-बान्धवोंको, वृद्ध गुरु और स्वजनोंको युद्धके लिये उद्यत देख युद्धसे पराङ्मुख होने लगे। उनकी छाती कांप उठी, धनुष हाथसे गिर पड़ा, शरीरमें पसीना छूट निकला। वे कृष्णसे हाथ जोड़कर पूछने लगे, "भगवन्! इन सगे-सम्बन्धियोंके सामने शस्त्र कैसे उठाया जाय? उठाऊं तो पाप होगा, कुटुम्बका क्षय होगा, और लड़कर भी मैं जीतूंगा ही, इस बातका भी मुझे कुछ भरोसा नहीं! अतः जैसा

तुम कहो, वैसा करूं। क्या मैं लड़ूं वा न लड़ूं? मुझे तो कुछ भी नहीं सूझ पड़ता। उस समय श्रीकृष्णने अर्जुनको एक ऐसा विशाल उपदेश दिया कि जिसमें सब धर्मोंका समावेश हो जाता है। वह उपदेश भगवद्गीताके नामसे प्रसिद्ध है और हिन्दूधर्मके सभी आचार्य और गुरुओंने, चाहे वे शैव अथवा वैष्णव हों, इसका बहुत ही आदर किया है। इसमें ज्ञानयोग, भक्तियोग और कर्मयोगका संक्षेपमें बड़ी अच्छी रीतिसे वर्णन किया गया है। यूरोप, अमेरिका आदि देशोंके भी विद्वान् लोग इसको बड़े प्रेमसे पढ़ते हैं, इसलिये समस्त संसारमें ही गीताकी ख्याति हो गई है।

हिन्दू लोग तो श्रीमद्भगवद्गीताको वेद और उपनिषदोंका सार मानते हैं। और आश्चर्य यह है कि मनुष्य जितना गीताका मनन करता है, उतना ही अधिक उसको नये ज्ञानका अनुभव होता रहता है। इसीलिये भिन्न-भिन्न लोगोंने इसपर हजारों ही टीकायें रची हैं। यह सभी टीकायें अपने अपने ढंगकी हैं, किन्तु वर्त्तमान समयमें जो टीका "गीता रहस्य" के नामसे प्रसिद्ध हिन्दूधर्म-तत्ववेत्ता और देशनेता लोकमान्य पण्डित बालगङ्गाधर तिलक द्वारा बनाई गई है, वह तो एक अद्भुत टीका बनी है। प्रत्येक हिन्दूका परम कर्त्तव्य है कि गीताकी एक प्रति अपने पास अवश्य रखे और संसारमें भी गीताका प्रचार करे तथा कराये।

बन्दीगृह=जेल। अनन्य=तन्मय। प्रक्षालन=धोना।

[२०]

चार पुरुषार्थ

गुरुजी—बालको! प्रारम्भमें निश्चय की हुई अपने धर्मकी व्याख्या तो तुम्हें याद होगी?

परमेश्वरको समझना, उसका भजन करना, उसके इच्छानुसार काम करना, जिससे अपनी और सबकी आत्माका भला हो—इसका नाम 'धर्म' है। हिन्दुधर्ममें परमेश्वरके समझने और भजनेके लिये उसका स्वरूप कैसा माना गया है, यह मैं बतला चुका हूं। परमेश्वर कैसे कर्म करनेसे प्रसन्न रहता है, इस विषयमें अब थोड़ा विचार करें।

सुबोध—कैसे काम किये जायं कि ईश्वर प्रसन्न रहे? यदि यह आप मुझसे पूछें तो मैं यह कहूंगा कि नीतिके अनुसार व्यवहार करनेसे ईश्वर सन्तुष्ट होता है।

गुरुजी– तो नीति क्या है?

सुबोध—सच बोलना, विश्वासपात्र बनना, किसीका भला करना इत्यादि।

गुरुजी– ठीक, इस विषयपर आगे चलकर और विशेष विचार करेंगे। किन्तु इसके साथ कोई तुमसे यह पूछे कि कमाना भला है वा बुरा, तो तुम क्या कहोगे?

सुबोध – कमाना भला ही है, उद्योग करना और पैसा कमाना, ये बातें प्रामाणिकताके साथ होनी चाहिये।

गुरुजी—यदि कोई फिर तुमसे पूछे कि क्या धन कमाकर सुख भोगना चाहिये वा नहीं, तो तुम क्या कहोगे ?

सुबोध—बेशक, सुख भोगना उचित है, किन्तु निरुद्यमी रहकर, धनोपार्जनके बिना, सुख भोगना ठीक नहीं और न ऐश-आराम ही करना उचित है।

गुरुजी—फिर कोई यदि तुमसे पूछे कि क्या अर्थोपार्जन और सुखोपभोगके साथ ईश्वर-भक्ति और कुछ परलोकका विचार करना उचित है वा नहीं, तो तुम क्या कहोगे ?

सुबोध—महाराज ! यह तो उचित ही है।

गुरुजी—अब सुनो, तुम आज हिन्दूधर्मशास्त्रके एक बड़े सिद्धान्तको साधारण विचार करते करते सीख गये। वह यह कि चार पुरुषार्थोंके सिद्ध करने और यथासम्भव इन चारोंका एक दूसरेके साथ मेल करनेमें मनुष्यके जन्मका सार्थक्य वा प्रयोजन है। वे पुरुषार्थ धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष हैं।

(१) **धर्म**—अर्थात् नीतिनियम, यह करना चाहिये, यह न करना चाहिये, इस तरहकी आज्ञायें, जिनपर जन-समाज स्थित है।

(२) **अर्थ**—अर्थात् धन, जिसके उपार्जनमें मनुष्य दिनरात दौड़ता फिरता है।

(३) **काम**—अर्थात् कमाना, सुखोपभोगकी इच्छा।

(४) **मोक्ष**—अर्थात् बन्धनसे छूटना। इस संसारमें हम जिन अज्ञान, दुःख और पापसे परिवेष्टित हैं, उनसे छूटना ही मोक्ष है।

वीरेन्द्र—गुरुवर ! क्या हम धर्मानुसार चलनेसे पाप और दुःखसे न छूट सकेंगे ?

गुरुजी—अवश्य छूट सकेंगे, यदि हम धर्म शब्दको विशाल अर्थमें समझकर तदनुसार चलें तो छूटना सम्भव है। यदि धर्म अथवा नीतिनियमोंको ही हम समझकर बैठ रहें और परमेश्वरका विचार और उसकी भक्ति इत्यादि बड़े बड़े विषय छोड़ दें तो मोक्ष कैसे सम्भव है ? इसके बिना अपना मनुष्य-जीवन व्यर्थ ही समझना चाहिये। इसलिये हिन्दू-धर्मशास्त्रमें धर्मके उपरांत मोक्ष माना जाता है।

वीरेन्द्र—गुरुदेव ! तो यह चौथा पुरुपार्थ सबसे उत्तम है।

गुरुजी—हां, किन्तु वह पहले पुरुपार्थोंके बिना हो नहीं सकता। परमेश्वरकी भक्ति, परमेश्वरका ज्ञान, धर्म और नीतिके बिना हो नहीं सकती। इसलिये धर्म सबका आधार है। अर्थ और काम, ये भी पुरुपार्थ हैं—क्योंकि पैसा कमाने और सुखोपभोग करनेसे परमेश्वर नाराज नहीं होता—तथापि इन दोनोंको धर्म और मोक्षके अधीन रखना चाहिये।

निरुद्यमी=उद्यमरहित—कुछ कार्य न करना।
उपार्जन=कमाना। परिवेष्टित=बँधा हुआ।

---

[२१]

चार वर्ण (१)

गुरुजी—बालको ! तुम इतना तो समझ गये होगे कि जब हम धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष, इन चारोंके लक्ष्यमें रखकर चलेंगे, तभी हमारा जीवन पूर्णरूपसे सार्थक होगा। लेकिन यदि कोई तुमसे पूछे कि धर्म क्या वस्तु है, धर्मका कैसे उपार्जन करना चाहिये,

सुखोपभोग कैसे करना चाहिये, ईश्वरका अनुभव किस रीतिसे होगा, इत्यादि, तो तुम क्या उत्तर दोगे ?

आनन्द—हम कुछ थोड़ी बात कह सकते हैं, किन्तु इन प्रश्नोंका यथोचित उत्तर हम न दे सकेंगे। विद्याके पढ़े बिना ये सब बातें ठीक ठीक समझमें नहीं आतीं।

गुरुजी—ठीक, विद्या ही उन पुरुषार्थोंकी सिद्धिका मूल है। विद्याके बिना कुछ भी नहीं हो सकता, इसलिये देशमें बहुतसी पाठशालायें, शिक्षक और उपदेशक होने चाहिये।

लेकिन बालको,—ईश्वर न करे ऐसा हो—मान लो, इसी क्षण हमारी पाठशालामें लुटेरे अकस्मात् आ घुसें तो ?

सूर्य्यदेव—पर लुटेरे कैसे आ सकते हैं, राजा हमारी रक्षा करता है। उसके नियत किये हुए पुलिस-विभागका यह कर्त्तव्य है कि वह लुटेरोंको पकड़े और सजा करावे।

गुरुजी—पर यदि लुटेरे शस्त्र लेकर मारने आवें तो ?

सूर्य्यदेव—जहांतक हो सके उन्हें पकड़ना चाहिये, नहीं तो फिर मारना चाहिये।

गुरुजी—ठीक, तो इतना ध्यानमें रखो कि जन-समाजमें जैसे विद्वान् गुरु और उपदेशकोंके एक वर्गकी आवश्यकता है, वैसे ही प्रजाकी रक्षा करनेवालोंका दूसरा वर्ग होना चाहिये।

लेकिन यह कहो कि पाठशालाके गुरु और पुलिस-विभागके निर्वाहके लिये धन चाहिये, वह कहांसे मिले ?

चन्द्रकान्त—(विचारकर) सरकार हमारे पाससे जो कर लेती है, उसमेंसे पैसे

गुरुजी—यदि लोगोंके पास पैसे ही न हों तो ?

चन्द्रकान्त—यदि हम पढ़ें और उद्योग करें तो क्या हम अपने प्रतापी राजाकी छत्रच्छायामें बसकर धनोपार्जन नहीं कर सकते ?

गुरुजी—तुम्हारा उत्तर एक तरहसे ठीक है, लेकिन यदि लोग केवल कर देकर बैठ रहें और राजा सिर्फ रक्षामात्र करे तो इतनेसे क्या बड़े बड़े विद्यालय, औषधालय, रेल, धर्मशालायें इत्यादि जो सार्वजनिक हित और आरामके लिये अनेक साधन चाहिये, वे पूरे पड़ सकते हैं ? हममेंसे कितने ही खेतोंमें सुधारकर, नये नये कला-कौशल निकालकर, तथा देश-परदेशमें व्यापार चलाकर यदि खूब धनोपार्जन करें और उस धनका लोगोंकी भलाईमें उपयोग हो, तभी हम सुखसे जीवन व्यतीत कर सकते हैं। इसलिये जन-समाजमें इस तरहका काम करनेवाले कितने ही धनवान और धन कमानेवाले पुरुष अवश्य होने चाहिये। यह जन-समाजका तीसरा वर्ग है।

अब यह कहो—ये धनवान लोग तो धन पैदा करते हैं, पर दुनियामें यदि मजदूर ही न हों तो क्या धन पैदा हो सकता है ?

रमानाथ—नहीं। मैं एक बार बड़े-बड़े कारखानोंमें गया था। वहां मैंने मजदूरोंके झुण्डके झुण्ड देखे। वे ही लोग करोड़ों रुपयोंका सामान बना रहे थे।

गुरुजी—ठीक, मजदूर जन-समाजका चौथा वर्ग है। पर यह ध्यानमें रखना चाहिये कि यदि लोहेके ढालने और बिजलीके पैदा करनेकी विद्या सिखानेवाले पण्डित न हों, रक्षा करनेके लिये कोई राजा न हो और कारखानोंके धनवान मालिक भी न हों, तो विचारे मजदूरोंको जीविका भी मुश्किलसे मिलेगी। इसलिये सचमुच

जन-समाजमें इन चारों वर्गोंकी आवश्यकता है।

अतएव हिन्दू-धर्मशास्त्रकारोंने जन-समाजके चार वर्ग बनाये हैं, जो 'वर्ण' कहलाते हैं। ये चार वर्ण इस प्रकारसे हैं—

(१) ब्राह्मण—जिनका विशेष काम विद्या पढ़ना, पढ़ाना और धर्मका उपदेश करना है।

(२) क्षत्रिय—जिनका विशेष काम प्रजाकी रक्षा करना और युद्धमें लड़ना है।

(३) वैश्य—जिनका विशेष काम खेती, पशुपालन और व्यापार आदि साधनोंसे धन उत्पन्न करना है।

(४) शूद्र—जिनका विशेष काम मजदूरी करना और सेवा करना है।

सार्वजनिक=सभीके लिये, वा सभीसे सम्बन्ध रखनेवाला।
जनसमाज=मनुष्योंका समुदाय।

---

[२२]

चार वर्ण (२)

व्रजनाथ—गुरुजी कहते हैं कि प्राचीन समयमें हमारा समाज एक रूप था और फिर कालान्तरमें उसमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, ये चार विभाग पड़ गये, यह क्या सच है?

गुरुजी—ठीक। जबतक जन-समाज सादी स्थितिमें रहता है तबतक एक मनुष्य अनेक धन्धे कर सकता है, लेकिन जैसे जैसे जनसंख्या बढ़ती जाती है और नई आवश्यकताएं उत्पन्न

होती है वैसे वैसे धन्धे भी बढ़ते जाते हैं। गांवमें बनियेकी दूकानपर आटा-दाल बिकती है, वहीं कपड़ेके चार थान भी पड़े होंगे और एक खानेमें पत्थरके बर्तन भी रखे होंगे। परन्तु शहरमें इन सबकी दूकानें अलग अलग होंगी। लोहेकी ईजादके पहले हल बनानेवाला कदाचित् बढ़ई होगा, लोहेकी ईजादके बाद कुछ दिन लुहारका काम बढ़ई करता रहा होगा, पर अन्तमें लुहारके कामके बढ़ जानेसे बढ़ई और लुहारके पेशे जुदे हो गये। इस प्रकार एकमेंसे अनेक धन्धे बन गये और जन-समाजके वर्ग बंधे। मूलमें एक ही वर्ण था। यही महाभारत और भागवत आदि पुस्तकोंमें उल्लेख है।

देवदत्त—किन्तु, गुरुजी, कहते हैं कि वेदमें यह कहा गया है कि ब्राह्मण मुख है, क्षत्रिय बाहु है, वैश्य जांघ है, और शूद्र पैर है। इसका अर्थ क्या है?

गुरुजी—इसका अर्थ तुम नहीं समझे। इसका अर्थ यह नहीं कि इन्हें एक दूसरेसे जुदा समझना चाहिये, इसके विपरीत इसका अर्थ तो यह है कि सब एक ही महापुरुष परमात्माके अवयव हैं। एक शरीरमें एक अवयव चाहे ऊंचे स्थानपर हो वा नीचे स्थानपर हो, लेकिन इस कारण किसीको निकम्मा न समझना चाहिये, बल्कि उसे एक ही परमेश्वरके शरीरके अवयवके समान देखना चाहिये।

चन्द्रशेखर—(आश्चर्यके साथ) तो गुरुजी! ऐसा अर्थ करना चाहिये कि ये सब वर्ण एक हैं, किन्तु लोग तो ऐसा अर्थ करते हैं कि सब जुदे जुदे हैं। कैसा अज्ञान!

गुरुजी—यथार्थ है। तुम ही विचारो, कि यदि ऐसा न होता तो यह बात पुरुषसूक्तमें—जो मुख्यतया परमात्माके ही विषयमें है—

किस लिये रखी जाती ? किन्तु तुम्हारी समझमें कुछ फेर रहा है, इसे मैं निकालना चाहता हूं। सब एक नहीं, किन्तु सब मिलकर एक हैं—सब एक शरीरके अवयव हैं।

देवदत्त—गुरुजी ! तो हिन्दू-धर्मके अनुसार जन्मसे कोई वर्ण ऊंचा नहीं ?

गुरुजी—धर्मानुसार नहीं है। अपनी योग्यताके कारण लोकमें वे ऊंचे नीचे गिने जायं, किन्तु धर्म तो यही मानता है कि ये सब एक ही परमात्माके अवयव हैं। और इस कारण वेदमन्त्र हमें कहता है कि भाइयो, तुम्हारेमें ऊंच नीचके भेद अपने कामके अनुसार पड़ गये हैं, पर यह समझ लो कि सब एक ही महापुरुषके अङ्ग हैं। (यह सुन, जुदे जुदे वर्णके होते हुए भी सब विद्यार्थियोंका ऊंच नीचका अभिमान जाता रहा)।

हरिलाल—गुरुजी ! अब मेरा सिर्फ एक बातका प्रश्न है। हिन्दू-धर्मशास्त्रके अनुसार क्या ब्राह्मण-कुलमें जन्म लेनेवाला ब्राह्मण होता है अथवा विद्वान और विद्या पढ़ानेवाला ब्राह्मण है ?

गुरुजी—मूलमें तो कर्म्म और गुणके अनुसार ही विभाग पड़े थे, अर्थात् धन्धेके कारण जन-साधारणमें विभाग पड़े; किन्तु सारा जन-समाज एक ही धन्धेपर आरूढ़ होकर देशका हित बिगाड़ता है; जैसे बौद्धकालमें हजारों स्त्री-पुरुष बिना कुछ विचारे भिक्षु और भिक्षुणी बन गये।

क्योंकि उसके पहले लोग सांसारिक भोगमें बड़े आसक्त और क्रूरचित्त हो गये थे, इसलिये बुद्धको वैराग्यप्रधान उपदेश देनेकी आवश्यकता पड़ी। परन्तु इसका अन्तिम परिणाम यह हुआ कि

जो सम्राट् चन्द्रगुप्तका स्थापित किया हुआ चक्रवर्त्ती राज्य, समस्त भारतवर्षके उपरान्त बाहरके देशोंमें, यथा पश्चिममें काबुल, ईरान, बलख, बुखारा और पूर्वमें जावा, सुमात्रातक फैल गया था, वह उसके पौत्र सम्राट् अशोकके पश्चात्, इसी वैराग्यके कारण छिन्न-भिन्न हो गया। क्योंकि इस वैराग्यमय उपदेशके कारण लोग बहुत अधिक संख्यामें वैराग्य लेने लग गये थे। यहांतक कि सम्राट् अशोकके समय में उनके अधिकांश भाई और पुत्र भी संन्यासी होगये थे। किन्तु एक उत्तम फल यह भी हुआ कि सम्राट् अशोककी सहायतासे लाखों-की संख्यामें बौद्ध-भिक्षुकोंने भारतवर्षसे बाहर जाकर चीन, जापान-तक बौद्ध धर्मका प्रचार किया। उसी प्रचारके प्रभावसे अबतक भी भारतवर्षके बाहर ४५ [पैंतालीस] कोटि बौद्ध लोग बस रहे हैं, जो हमारे ही हिन्दू भाई हैं, यह हमारे लिये बड़े गौरवकी बात है। इस समय भी प्राचीन समयके अनेक आर्य सम्राटोंकी तरह बौद्धकालके इन चन्द्रगुप्त और अशोक आदि सम्राटोंको हम लोग आदरसहित याद करते रहते हैं। किन्तु खेद है कि राजकुलोंमें छोटी अवस्थामें ही वैराग्यका प्रचार होनेसे भारतवर्षकी राजनैतिक स्थिति इतनी हीन होगई कि बौद्धकालके पश्चात् कोई चक्रवर्त्ती सम्राट् हिन्दुओंमें अब तक नहीं हो सका है।

बाप दादोंका धन्धा सरलतासे सीखा जा सकता है, और उसमें प्रवीणता सुगम रीतिसे मिल जाती है, इसलिये यह साधारण नियम बना दिया गया कि हर एक अपने कुलके धन्धे ही किया करें। ...न्तु इस नियमके, गुण और कर्म्मके अनुसार, विपरीत दृष्टान्त भी होते थे। विश्वामित्र क्षत्रिय होते हुए भी तपके प्रतापसे ब्राह्मण

हो गये। कवप ऐलूष शूद्र थे, किन्तु उनकी धार्मिकता देख ऋषियों-ने उन्हें अपने मण्डलमें ले लिया था, जानश्रुति पौत्रायण नामका एक शूद्रराजाभी ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर सका था।

वाल्मीकि, व्यास आदि अनेक ऋषिगणकी उत्पत्तिका सम्बन्ध शूद्रकुलसे उत्पन्न होनेपर भी वे अपने ज्ञानके कारण ब्राह्मण बन गये थे। ऐसे अनेक दृष्टान्त हमारी प्राचीन पुस्तकोंमें पढ़नेमें आते हैं।

चन्द्रकान्त—गुरुदेव! मेरा एक प्रश्न यह है कि इन चार वर्णोंमेंसे इतनी अधिक जातियां कैसे बन गईं।

गुरुजी—इसका एक कारण यह है कि वैश्योंके जुदे जुदे धन्धोंके कारण जुदे जुदे वर्ग बन गये। जो दूसरे भागमें बसनेके लिये गये, उन्होंने अपने अपने मूल वतनके अनुसार जुदी जुदी टोलियां बना लीं और उन टोलियोंमें भी अच्छे बुरे रिवाजोंके भेदसे और परस्परके झगड़े इत्यादि अनेक कारणोंसे तड़ पड़ते चले गये। लेकिन हिन्दू-धर्मशास्त्रके अनुसार तो जन-समाजके केवल चार वर्ण हैं और वे भी मूलमें कर्म्म और गुणके अनुसार ही पड़े हैं, जन्मसे नहीं पड़ते हैं; हमारे पूर्व कथनानुसार ये चार वर्ण हजारों मुख हाथ पैरवाले जन-समाज रूप एक ही महापुरुषके अङ्ग हैं, इस तत्वको समझ लेना परम आवश्यक है।

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः

गीता अ० ४ श्लो० १३

चार आश्रम

गुरुजी—बालको ! हिन्दूधर्म्ममें जो वर्ण-व्यवस्था बांधी गई है इसके विषयमें हमारे लम्बे चौड़े विचार करनेका कारण तो तुम समझे ही होगे ?

केशव—हां, हमारे धर्म्ममें जातपांतकी बात बड़ी मानी जाती है, और आजकल सब जगह, जातपांत रहनी चाहिये वा नहीं, इस विषयमें बहुत विवाद होता सुना करते हैं। इसलिये इस प्रश्नपर विशेष विचार करना आवश्यक था।

गुरुजी—ठीक। यदि धर्म्मके साथ इसका सच्चा सम्बन्ध न होता तो मैं इस विषयमें इतनी लम्बी चर्चा न करता। हिन्दूधर्म्म-शास्त्रमें यह व्यवस्था बांधनेका और इसे शास्त्रकी आज्ञाके रूपमें रखनेका अभिप्राय यह है कि जन-समाजकी बिना ऐसी रचना वा व्यवस्था किये हुए, धर्म्म, अर्थ, काम, मोक्ष, ये चार पुरुषार्थ सिद्ध नहीं हो सकते।

हरिलाल—चारोंको न साधें और एकाध साधें तो क्या काम न चले ?

गुरुजी—एक दो मनुष्यका कदाचित् काम चल जाय, किन्तु समस्त जन-समाजका काम नहीं चल सकता। कोई भगवद्भक्त मनुष्य तो यह कहेगा कि मुझे ऐसा न चाहिये, सुख न चाहिये, मुझे किसीकी सेवा न करनी चाहिये, मुझे कोई मार डाले तो भला, लेकिन मैं तो जबतक इस देहमें जीव है तबतक परमेश्वरका

ध्यान ही करूंगा, अर्थात् मुझे अर्थ और कामकी दरकार नहीं, मुझे वैश्य, क्षत्रिय और शूद्रकी जरूरत नहीं, मैं तो केवल ब्राह्मण ही रहना चाहता हूं, तो कदाचित् एक ही पुरुषार्थसे काम चल सकता है; किन्तु सारे जन-समाजके लिये एक पुरुषार्थ किस प्रकार पर्याप्त होगा ? जन-समाजमें धन पैदा करनेवाले धनिक, श्रम करनेवाले मजदूर और रक्षा करनेवाले क्षत्रिय अवश्य चाहिये।

हरिलाल—जन-समाज को चाहिये तो इसमें हमें क्या मतलब ?

गुरुजी—जन-समाजसे हमारा घनिष्ट सम्बन्ध है, इसके कल्याणमें हमारा कल्याण है, इसे क्यों भूल जाते हो ? इसलिये हमारी धर्मकी व्याख्यामें ही यह बात आती है कि अपना ही नहीं, बल्कि सारे जन-समाजका भला करना अपना कर्त्तव्य है।

ईश्वरने ही जन-समाजका निर्माण किया है, उसके कल्याणके बिना अपना कल्याण भी नहीं। अतएव किसी भी प्रकारके समाजकी व्यवस्थाका धर्मके साथ घना सम्बन्ध है। हमारे शास्त्रकारोंने अपने समयके अनूकूल और उपयोगी होनेवाली व्यवस्था बनाई थी। तुम्हें अपने समयके अनुसार यदि जुदी तरहकी व्यवस्था बनानी हो तो बनाओ, पर किसी प्रकारकी वर्णव्यवस्था तो अवश्य ही होगी। यह भी याद रखना चाहिये कि चाहे जैसी व्यवस्था क्यों न हो, उसमें धर्मका अवश्य आदरणीय स्थान होना चाहिये और व्यवस्थामें अर्थ और काम, धर्म और मोक्षका लोग तिरस्कार न करने पावें। आधार और छतके बिना कभी किसी इमारतको तुमने देखा है ?

वर्णव्यवस्थाका हिन्दू-धर्म्ममें इतना अधिक महत्व क्यों है, इस बातको लड़के समझ गये।

गुरुजी—बालको! अब हम आगे चलें। हिन्दू-धर्म्ममें जैसे जन-समाजकी भलाईके लिये कितने ही नियम बनाये गये हैं, वैसे ही हर एक मनुष्यको अपना भला किस रीतिसे करना चाहिये, इस विषयपर भी विचारकर जीवनके एक सुन्दर "समय विभाग" की रचना की गई है। यह ऐसे विलक्षण विवेक और युक्तिसे बनाया गया है कि अपना भला करनेके साथ सबका भला हो सकता है। चार आश्रमोंकी व्यवस्था ही यह "समय विभाग" है। वे आश्रम इस प्रकारके हैं:— **(१) ब्रह्मचर्याश्रम (२) गृहस्थाश्रम (३) वानप्रस्थाश्रम और (४) संन्यासाश्रम।** आश्रमका सरल अर्थ विश्राम लेनेका स्थान है। पर इसका गम्भीर अर्थ यह है, कि जैसे ऋषि लोग वनमें आश्रम बनाकर रहा करते और उसमें अपने जीवन व्यतीत किया करते थे, वैसे ही साधारण मनुष्यको ऋषियोंके आश्रमकी भांति पवित्रतासे अपने जीवनके चार भाग बिताने चाहिये।

(१) इनमें पहला भाग ब्रह्मचर्याश्रम है। "ब्रह्म" अर्थात् वेदोपवेद विद्यायें, इन्हें केवल पढ़ना ही नहीं, किन्तु इनके अनुसार आचरण करना, इसका ही नाम ब्रह्मचर्य है। आठसे बारह बरसकी अवस्थाके भीतर पिता यज्ञोपवीत देकर बालकको गायत्रीका उपदेश करे।

हमारे धर्मशास्त्रोंमें लिखा है कि:—

जन्मना जायते शूद्रः

मनुः अ० श्लो०

(अर्थ) जन्मसे तो सभी शूद्रकी संज्ञामें गिने जाते हैं, परन्तु द्विज होनेके लिये संस्कारोंकी आवश्यकता होती है। फिर वह

विद्यार्थी बनकर गुरुके घर जाय, वहां अत्यन्त सादगी और पवित्रतासे रहकर कमसे कम १२ बरसतक विद्या पढ़े और गुरुकी सेवा करे। सेवा करनेका मुख्य हेतु यह है, कि विद्यार्थी बालकपनहीसे नम्रता और सादगी सीखे, और ब्रह्मचारीको तो कुछ देह-कष्ट भी सहना चाहिये, जिससे बड़े होनेपर वह दुर्बल और आरामतलब न होकर परिश्रमी और बलवान हो। उसे भिक्षा मांगकर पेट भरना चाहिये गांवमें फिरकर उसे भिक्षा लाना और गुरुको उसे समर्पण कर उसकी आज्ञासे उसका उपयोग करना चाहिये। भिक्षा करनेके कारण उसे लोगोंसे नम्रतापूर्वक व्यवहार करना और अपनी जीविका स्वयं करना, इत्यादि बातें ब्रह्मचारी सीख लेता था। लोग भी विद्याका आदर करते और विद्याके लिये सहायता करना सीखते थे। गुरुकी शिष्यके जीवनपर देखरेख भी रहती थी। इस आश्रममें रहना ऐसा आवश्यक था कि श्रीकृष्ण जैसे महापुरुष भी गुरुके घर आकर ऐसी ही सादगी और देहकष्टसे रहे और विद्याध्ययन किया।

(२) जिसे सारा जीवन विद्याकी सेवामें ही व्यतीत करनेकी इच्छा हो वह सदा ब्रह्मचर्याश्रममें ही रहे। जिस किसीका मन अत्यन्त वैराग्ययुक्त हो, वह ब्रह्मचर्याश्रममेंसे संन्यासी हो जाय, पर साधारण नियम यह है कि विद्याध्ययन समाप्त कर बीस वा चौबीस वर्षकी अवस्थामें घर जाकर गृहस्थाश्रममें प्रवेश करना चाहिये। विवाह करना और घर बनाकर रहना, यही गृहस्थाश्रमका आधार स्त्रीपर है, इसलिये स्त्रीपर प्रेम रखना, यह इस आश्रमका पवित्र धर्म है। भगवान् मनुका कथन है कि जिस घरमें स्त्री-

पुरुष एक दूसरेसे प्रसन्न हैं वहीं कल्याण है, और जहां स्त्रीं प्रसन्न है वहां ईश्वर प्रसन्न हैं। इस आश्रमका दूसरा बड़ा धर्म 'दान' है। जिस आश्रममें धनोपार्जनका अधिकार है उसमें ही दान देनेका कर्त्तव्य है। गृहस्थाश्रममें अपने अपने वर्णके अनुसार हर एक मनुष्यको उद्योग कर कमाना और संसारका सुख भोगना चाहिये, पर दृष्टि सदा सदाचार और ईश्वरपर स्थिर रहनी चाहिये। इन बातोंका स्मरण दिलानेके लिये पहले हर एक घरमें 'अग्निहोत्र' रखनेका रिवाज था, और पति-पत्नी साथ बैठकर अग्निमें आहुति देते थे। पति-पत्नी दोनों ही 'दम्पति' कहलाते थे, 'दं' अर्थात् घर उसके दोनों ही पति अर्थात् स्वामी थे। पुरुष स्वामी और स्त्री परिचारिका, यह 'दम्पति' का तात्पर्य नहीं। भगवान् मनुका कथन है कि सब आश्रमोंमें गृहस्थाश्रम श्रेष्ठ है, क्योंकि जैसे वायुपर सब प्राणियोंके प्राणका आधार है वैसे ही गृहस्थाश्रमपर सब आश्रमोंका आधार है,जैसे छोटी बड़ी नदियां समुद्रमें जाकर आश्रय लेती हैं, वैसे सभी आश्रमियोंका विश्राम गृहस्थाश्रमीके यहां है।

(३) गृहस्थाश्रमके पश्चात् वानप्रस्थाश्रम है। संसारका खूब सुखभोगनेके पश्चात् घरका सारा प्रबन्ध पुत्रोंपर छोड़ चिन्तन और मनोनिग्रह करते हुए अपने ज्ञानसे संसारको लाभ पहुंचाना, वन, उपवनमें जाना और परमात्माका चिन्तन करना, यही वान-प्रस्थाश्रमका उद्देश्य है। ईश्वरके निरन्तर भजनके विचारसे गृहस्थ घर-बार छोड़, यदि स्त्रीकी इच्छा हो तो उसे भी साथ लेकर, वन-में जाता है। वनमें जानेका उद्देश्य यह है कि वहां फलफूल खाकर जीवन-निर्वाह करना पड़ता है और कुटुम्बपर वह स्वयं भाररूप

नहीं होता, पर विशेष कारण तो यह है कि वहां निरन्तर सृष्टि-लीला देखते हुए प्रभुका चिन्तन ठीक होता है। पूर्वकालमें तो सूर्यवंशके राजा लोग भी अपनी पत्नियोंके साथ वानप्रस्थ लेते थे, किन्तु कालक्रमसे देशमें राजकीय प्रबन्ध घट जानेके कारण वान-प्रस्थाश्रम लुप्त हो गया। जाड़ा और धूप सहन करना, प्राणीमात्र-पर दया रखना, उनके सुखमें सुखी और दुःखमें दुःखी होना, मन ईश्वरमें लगाना, और अपना समय धार्मिक पुस्तकोंके मननमें व्यतीत करना, ये ही इस आश्रमके मुख्य धर्म हैं।

(४) वानप्रस्थाश्रममें कुछ दुनियाके साथ सम्बन्ध रहता ही है, जैसे आश्रम बनाकर रहना, स्त्रीके साथ वा अकेला रहकर ईश्वरका चिन्तन करना, और अतिथि आवे तो उसका सत्कार करना, तथा कितने ही व्रत, होम आदि करना। पर वानप्रस्थाश्रमके पश्चात् अन्तिम संन्यासाश्रम है। इसमें समस्त कर्मों और सांसारिक सम्बन्धोंका 'संन्यास' अर्थात् पूर्णरीतिसे त्याग करना पड़ता है। संन्यासीको एक बार भिक्षा मांगकर भोजन करना, निरन्तर परमा-त्माका चिन्तन करना, एक ही ग्राम-शहर वा वनमें पड़े न रहकर देशाटन करते रहना, और अपने पवित्र ज्ञानसे जगत्का कल्याण करते रहना चाहिये। उसे क्रोध करनेवालेके सामने क्रोध न करना चाहिये और जो गाली देता हो उससे कुशल प्रश्न पूछना चाहिये, अर्थात् उसे सदा शान्त, दयावान, क्षमाशील और परोप-कारी होना चाहिये। ये ही संन्यासाश्रमके धर्म्म हैं।

संस्कार (१) उपनयन

सुखदेव—गुरुजी, आपने जो कल संस्कार गिनाये थे ब्राह्मणोंके ही हैं न ?

गुरुजी—नहीं, ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य, इन तीनों वर्णोंके हैं। ये तीनों वर्ण 'द्विज'—दो बार जन्म लेनेवाले कहे जाते हैं। इनका पहला जन्म माताके पेटसे और दूसरा उपनयन-संस्कारसे माना जाता है।

हरिलाल—लेकिन आपने कहा था कि उपनयन-संस्कार गुरुके पास विद्या पढ़नेके लिये होता है। तो वास्तवमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इन तीनों वर्णोंके लोग पढ़ते होंगे ?

गुरुजी—हां, इतना ही नहीं, किन्तु बहुत प्राचीन कालमें कन्याओंको भी यज्ञोपवीत दिया जाता था और उन्हें घर रखकर वेद पढ़ाये जाते थे। वे सिर्फ गुरुजीके यहां न जाती थीं और न भिक्षा मांगती थीं।

हरिलाल—गुरुजी, तो शूद्रके सिवाय सभी लोगोंको वेदोंकी शिक्षा मिलती होगी।

गुरुजी—हां, ऐसी बहुतसी जातियां देखनेमें आती हैं जो आजकल शूद्र गिनी जाती हैं, किन्तु जो असलमें क्षत्रिय वा वैश्य थीं। यदि इन सबको द्विजोंमें गिन लें तो तुम समझ सकोगे कि हिन्दुस्थानके कितने अधिक लोग द्विज थे और अनिवार्य उच्च शिक्षाका लाभ उठाते थे।

विचारचन्द्र—गुरुजी, असली शूद्रोंको वेदोंसे क्यों अपढ़ रखा जाता था ?

गुरुजी—इस विषयकी व्याख्यामें जो कुछ मैं कहूं, उसे सुनो। मूल शूद्र आर्य-जन-समाजके बाहरके अनार्य लोग थे। वे जैसे जैसे आर्य लोगोंके सम्पर्कसे सुधरते गये, वैसे वैसे वे आर्य जन-समाजमें शामिल किये गये। उनमेंसे कितनोंहीको वेद और ब्रह्मविद्याका उपदेश मिला, यह बात तुम्हारे जाननेमें है। जानश्रुति पौत्रायणका दृष्टान्त जो मैंने उस दिन सुनाया था, उसे याद करो। शूद्र लोग प्रायः वेदमन्त्रोंका ठीक ठीक उच्चारण नहीं कर सकते थे, इस कारण उन्हें वेद सिखानेमें न आते थे। और यह भी ध्यानमें रखना चाहिये कि उस समयमें वेदका सीखना अधिकारकी अपेक्षा विशेष रूपका कर्त्तव्य था, इस कारण जङ्गली दशामेंसे हालहीमें निकले हुए और बिलकुल दरिद्र वा अज्ञानी वर्गपर वेद पढ़नेका भार रखना कदापि उचित न होता। फिर इस बातका विचार करना चाहिये कि आर्य लोग फैलते फैलते कितनी तरहके न्यूनाधिक जङ्गलीपन रखनेवाले अनार्य लोगोंके साथ संबन्धमें आये होंगे, इन सबके सिरपर वेद-विद्याके पढ़नेका भार डालना क्या यह सम्भव था ? किन्तु काल-क्रमसे वेदकी संस्कृत भाषामेंसे लोककी संस्कृत भाषा बनी, और उसके साथ ही साथ शूद्र लोग भी अधिक आर्य बनते गये, इसलिये इस नई लोकभाषाके द्वारा वेदकी समस्त विद्या शूद्रोंको भी पढ़ाई जाने लगी। शूद्रके लिये वेदोंकी शिक्षाका निषेध है, यह मानना अनुचित है।

यहांके एक एक विश्वविद्यालयमें (गुरुकुल) में सहस्रों छात्रोंको शिक्षा मिलती थी, जिस प्रधानाध्यापकके गुरुकुलमें एक सहस्रसे अधिक ब्रह्मचारी विद्याध्ययन किया करते थे, उस अध्यापकका नाम कुलपति होता था। अनुमान डेढ़ सहस्र वर्ष पहिलेतक इस बीचके युगमें भी नालन्द और तक्षशिला जैसे अनेक जगह प्रसिद्ध विश्व-विद्यालय थे, जिनमें दस दस सहस्र ब्रह्मचारी विद्याध्ययन करके लाभ उठाते थे।

सब लड़के यह भलीभांति समझ गये कि भारतमें शिक्षाका प्रचार बहुत व्यापक था। इस प्रसङ्गपर विचारके बाद उस दिनका काम शुरू हुआ।

गुरुजी—अब हम उपनयन-संस्कारकी बात शुरू करें। उपनयनका नियम यह है कि गर्भसे वा जन्मसे आठवें वा दसवें वर्षमें ब्राह्मणका उपनयन होना चाहिये, और ग्यारहवें वर्षमें वैश्यका उपनयन होना चाहिये। ब्राह्मणसे विद्योन्नतिकी सबसे अधिक आशा की जाती है, इसलिये उसका उपनयनकाल सबसे पहले आरम्भ होता है, और इसी रीतिसे वैश्यका सबसे देरमें।

---

[२५]

विवाह

तत्पश्चात् बारह वर्ष अथवा विद्या पूरी होनेतक ब्रह्मचर्य पालन कर विद्यार्थी गुरुके घर रहता है। पढ़नेके विषयोंमें पहले वेद, वेदसे सम्बन्ध रखनेवाले यज्ञके रहस्य और विधिके ग्रन्थ, "गाथा" अर्थात्

महापुरुषसम्बन्धी काव्य, "नाराशंसी" अर्थात् महापुरुषोंकी प्रशंसा-के कवित्त, इतिहास अर्थात् सच्ची घटनाओंका और बड़े पुरुषोंके चरित्रका यथार्थ वर्णन और "पुराण" सृष्टिसे आरम्भ कर विविध युगोंकी कथायें—इतने विषयोंमें सामान्य रूपसे शिक्षा हुआ करती थी, जिसके द्वारा विद्यार्थीको ईश्वर और धर्म्मका ज्ञान होता था तथा उसका हृदय उच्च और पराक्रमी बनता था। इन विषयोंके कितने ही अंश तो ब्राह्मण ही मुख्यतया पढ़ते होंगे, कितने ही विषयोंपर क्षत्रिय और कितनोंहीपर वैश्य विशेष ध्यान देते होंगे। इनके सिवाय धनुर्विद्या, शिल्पशिक्षा इत्यादि जुदे जुदे वर्णोंके लिये कितने ही विशेष विषय भी होते थे।

विद्याध्ययनके समाप्त होनेपर समावर्तन कर अर्थात् घर वापिस आकर विवाह करना चाहिये। विवाहकी विधिमें कन्याके माता-पिताको वरपक्षसे कुछ भी न लेना चाहिये, यदि वे कुछ लें तो कन्याविक्रयका (लड़की बेचनेका) पाप उन्हें लगता है। यह हमारे आर्य्यधर्मका बड़ा नियम है। कुटुम्ब पापी वा रोगी मनुष्योंका न हो, यह पहले देख लेना आवश्यक है। विद्वानको ही कन्या देना यह दूसरा नियम है और कन्यामें बुद्धि, रूप, शील, (चरित्र) और लक्षण इत्यादि गुण होने चाहिये। विवाहकी विधिमें निम्नलिखित बातें हुआ करती हैं। ब्रह्मचर्यपूर्वक विद्याध्ययन कर वर आता है और कन्याके मां-बापसे कन्याके लिए प्रार्थना करता है। कन्याके मां-बाप उसका मधुपर्कसे (मधु, घी आदि अतिथि-सत्कारकी वस्तु) सत्कार करते हैं। फिर वे गार्हपत्य घरकी अधिदेवतारूपी अग्निकी स्थापना-कर वरकी दाहिनी ओर कन्याको बिठाते हैं। फिर वर कन्याका ग्रहण

कर कहता है, "मैं तेरा हाथ पकड़ता हूं, तुझे अच्छी सन्तान हो और मेरे साथ तू भी दीर्घायु हो, अर्यमा सविता और पुरन्धि इन देवताओंने तुझे गृहस्थाश्रम चलानेके लिये मुझे दिया है, तेरी शुभ-दृष्टि हो. पतिकी तुझसे कोई हानि न हो, पशुओंका तुझसे कल्याण हो। तू सुन्दर मनवाली और सुन्दर तेजवाली हो, तुझे जीवित पुत्र हों और वे वीर निकलें, तुझसे सबको सुख हो, मनुष्य और पशुओं-का तुझसे कल्याण हो।"

फिर वर कन्यासे अग्निमें होम कराता है, उस समय वह कहती है, "मेरे पति दीर्घायु हों और मेरे सगे सम्बन्धी सुखी हों।" फिर अग्निके पास "सप्तपदी" अर्थात् वर कन्याके साथ साथ चलनेकी विधि होती है। इसमें अन्न,जल,घृत,सुख,पशु, लक्ष्मी और विद्या तेरे साथ आवें,इस प्रकार वर क्रमसे एक एक वस्तु मांगता है और सातवां पैर रखते ही वह कहता है, "हम दोनों अब सात पैर चलाने-वाले मित्र हुए, मेरी तेरी मित्रता हो, मैं तेरी मैत्रीसे छूटूं नहीं और मेरी मैत्रीसे तू न छूटे।" पीछे पत्नी पतिके घर जाया करती है।

विवाहकी यह विधि तो प्रधान है, किन्तु इसके अतिरिक्त और भी कई प्रकारके विवाहोंकी विधियां स्मृति ग्रंथोंमें पाई जाती हैं, जो उन ग्रन्थोंके देखनेसे जानी जा सकती हैं।

---

[२६]

पञ्च महायज्ञ

वसन्त—गुरुजी, आपने कल उपनयन और विवाहका जो वर्णन किया था वह हमें बहुत ही अच्छा लगा। इन क्रियाओंमेंसे हम दो एक सारकी बातें समझे हैं जो कदाचित सत्य हों—एक तो गुरुके

साथ विद्यार्थीको एकमन होकर अध्ययन करना, और दूसरी पति-पत्नीको एक दूसरेका मित्र, एक घरके दो इकट्ठे मालिक होकर रहना, तथा गृहस्थाश्रमका सुख भोगना।

गुरुजी—ठीक है। लेकिन गृहस्थाश्रमकी बाबत एक बात विशेष रूपसे समझनेकी जरूरत है। वह यह है, कि गृहस्थाश्रम केवल सुख भोगनेके लिये नहीं, बल्कि अग्निकी साक्षीमें अर्थात् ईश्वरको साक्षी समझकर गृहस्थाश्रमके कर्त्तव्य करनेके लिये है। उन कर्त्तव्योंका स्मरण रखनेके लिए हर एक गृहस्थाश्रमीको "पंच महायज्ञ" करनेकी आज्ञा है। ये यज्ञ बड़े महत्वके हैं, और यद्यपि इनकी क्रियाएं बहुत सरल हैं तो भी गृहस्थाश्रममें इनका महत्व इतना अधिक है, कि ये महायज्ञ कहलाते हैं। वे महायज्ञ ये हैं—(१)देवयज्ञ, (२) पितृयज्ञ, (३) ब्रह्मयज्ञ, (४) भूतयज्ञ और (५) मनुष्य-यज्ञ।

देवयज्ञ—अर्थात् देवताका पूजन। इस पूजनमें प्राचीनसे प्राचीन अग्नि-पूजा और सूर्य-पूजा है। अग्नि-पूजामें अग्निकी स्तुति कर अग्निमें आहुति दी जाती है, और सूर्य-पूजा हमारी सन्ध्या है। प्रातःकाल, मध्याह्न और सायंकाल, इन तीनों समय सन्ध्या करनेकी आज्ञा है। इसमें स्नानकर धुला वस्त्र पहिन, पूर्व दिशामें बैठ पहले भस्म लगाना चाहिये, फिर शिखा बांध, शरीरके जुदे जुदे अवयवों और इन्द्रियोंमें बल और प्रभुके वासकी परमात्मासे प्रार्थना की जाती है, तथा प्राणायामसे (श्वासोच्छ्वासके रोकनेसे) प्राण और आत्मा वशमें किये जाते हैं। फिर सन्ध्याका मुख्य काम शुरू होता है। उसमें पहले मार्जन, फिर अघमर्षण, फिर अर्घप्रदान, फिर उपस्थान और अन्तमें गायत्रीजप होता है। देहपर जलके छींटे

डालकर देहकी शुद्धि करना मार्जन कहलाता है। फिर अघमर्षणमें अर्थात् पापोंके क्षमा करानेकी विधिमें जल सुंघकर फेंक दिया जाता है। यह विधि इसलिये है कि एक बार सूंघा हुआ पाप यदि सचमुच फेंक दिया जाय तो उसकी क्षमा ईश्वरसे अवश्य मिलती है। फिर अर्घ्यदानमें गायत्रीमन्त्र पढ़ सूर्यको जलकी तीन अंजलियां दी जाती हैं। तत्पश्चात् सूर्यनारायणकी सेवामें मानों तत्पर हाथ सूर्यको दिखाकर स्तुति की जाती है। इस स्तुतिका मुख्य अभिप्राय यह है कि सूर्य, जो सब देवताओंका नेत्र है, अपने तेजसे आकाश, पृथ्वी और अन्तरिक्ष परिपूर्ण कर रहा है, और स्थावरजंगम सभी पदार्थों-की वह आत्मा है। अन्तमें गायत्रीमन्त्रका जप किया जाता है। इसमें पृथ्वी (भूः), अन्तरिक्ष (भुवः) और स्वर्ग (स्वः), इस प्रकार तीनों लोकोंका स्मरणकर; फिर यह गायत्री यथाशक्ति १०८ अथवा अधिक बार स्थिरचित्तसे जपनी चाहिये—"उस परमात्मा सविता देवका यह तेज—जो प्रेमसे प्रार्थना करने योग्य है—उसका हम ध्यान करते हैं—जो देव हमारी बुद्धियोंको प्रेरित करे।"

मैंने तुमसे एक बार कहा था कि वेदके समयकी अग्निपूजा आज-कलकी शिवपूजामें परिणत हो गयी है—अग्निकी वेदी जलाधारी है, उसकी ज्वाला शिवलिङ्ग है, ज्वालाके अन्तर्गत धुआं शिवकी जटा है, अग्निमें होम करनेकी घीकी धार शिवलिङ्गपर जलका अभि-षेक है, और 'अग्निहीको महानदेव' कहकर 'वृषभ'की उपमा दी गई है, उसके कारण महादेवके सामने नन्दीकी स्थापना की जाती है, और लोग शिवजीके प्रसादरूपसे भस्म लगाते हैं। इस प्रकार अग्निके स्थान-में शिवजीकी पूजाका आरम्भ हुआ। और इसी प्रकार सूर्यके स्थानमें विष्णुकी पूजा होने लगी। विष्णु तो पहलेहीसे एक आदित्यरूपसे

प्रसिद्ध थे,इसकारण विष्णु सूर्यके स्थापनापन्न सरल रीतिसे हो गये। रक्षा करना भगवान विष्णुका काम है, इसकारण उनके अवतार हुए, और उनकी भक्तिसे ही राम, कृष्ण आदिकी उपासना और सम्प्रदाय चले। जो कट्टर वैष्णव वा शैव होते हैं, वे या तो केवल विष्णुकी—राम अथवा कृष्णकी—मूर्त्तिकी वा केवल शिव, पार्वती और उनके पुत्र गणपतिहीकी पूजा किया करते हैं। किन्तु हिन्दुओंका बड़ा वर्ग, जो एक ही सम्प्रदायका अनुयायी नहीं है, शिव और विष्णु और दोनोंको एक मानता है, और शिव, विष्णु, सूर्य, गणपति और अम्बि-का (माता) इस 'पञ्चायतन' की पूजा करता है। ईश्वर एक ही है, किन्तु पांच जगह प्रकट होनेके कारण उसे पांच जुदे जुदे नाम प्राप्त होते हैं। इसकारण वे पञ्चदेव नःकहलाकर 'पञ्च-आयतन' कहे जाते हैं। हर एक ब्राह्मणको संध्या करनेमें सूर्यरूपसे परमेश्वरका ध्यान करना पड़ता है, इसलिये पञ्चायतनमें एक तो सूर्य है, दूसरे दो शिव और विष्णु हैं—'शिव' यह सुखमय मंगलमय परमेश्वरका नाम है, और 'विष्णु' यह उस सर्वव्यापक प्रभुका नाम है, जो इस सृष्टिकी रक्षाके लिये अवतार लेते हैं। चौथे उसी एक परमात्माका ही नाम "गणपति" है, जो सब विघ्नोंका नाश करते हैं और विद्याके देवता हैं, और पांचवीं 'अम्बिका' अर्थात् माताजी हैं। वे परमेश्वरकी शक्ति हैं, उनमेंसे यह सारा जगत् उत्पन्न हुआ है। अतएव सब मिलकर कहो कि जगत्के माता पार्वती परमेश्वरको हमारा नमस्कार है—*जगतः पितरौ वन्देपार्वती परमेश्वरौ!* (सब मिलकर एक स्वरसे कहते हैं)

आजकल बहुतसे प्राचीन पन्थके हिन्दुओंमें भी यह एक ही देवयज्ञ रहा है, लेकिन इसके सिवाय ब्रह्मयज्ञ, पितृयज्ञ आदि भी कुछ कम महत्वके नहीं।

ब्रह्मयज्ञ—वेद पढ़ना ही ब्रह्मयज्ञ है। इसमें वेदकी सामान्य रचनाका और उसके कितने ही मन्त्रोंका नित्य स्मरण करनेमें आता है।

पितृयज्ञ—इसमें परलोकगत माता-पिता और दूसरे सगे-सम्बन्धियोंका स्मरण कर उन्हें जलकी अञ्जलियाँ दी जाया करती हैं। इसे 'तर्पण' कहते हैं। इसी रीतिसे देवता और ऋषियोंके जुदे जुदे नाम लेकर भी तर्पण किया जाता है। अपने पूर्वजों और बड़े ऋषियोंको देववत् समझकर उनका मान करना और सदा स्मरण रखना ही इस विधिका मुख्य हेतु है।

भूतयज्ञ—प्राणी मात्रका भला चाहकर उन्हें भी अपने अन्नमेंसे भाग देना यह भूत यज्ञ है। गृहस्थ मनुष्य 'वैश्वदेवमें' ठेठ चींटीपर्यन्तके प्राणियोंके लिये अग्निके सामने भातका बलिदान रखता है और फिर घरके बाहर जाकर पशु, पक्षी और कीट अर्थात् प्राणी-मात्रको रोटी भात आदि डालता है। यों तो हिन्दू (आर्य) गृहस्थके लिये प्राणीमात्रके निमित्त अपने अन्नमेंसे विभाग निकालनेकी आज्ञा है, किन्तु उसके लिये गोरक्षाका विशेष माहात्म्य हमारे शास्त्रोंमें कहा गया है। यजुर्वेदमें चलते ही पहिले मन्त्रमें "गाव अघ्न्याः" बतायी गयी हैं। इसका अर्थ यह है कि गौओंको तो सर्वदा ही पालने और उनकी रक्षा करनेकी आज्ञा दी गई है। किसी भी कारण गोहिंसा महापातक माना गया है। गो एक ऐसा प्राणी है, जिससे मनुष्यको लाभ ही लाभ पहुंचता है। जैसा गोघृत गुणकारी है, वैसा और पशुओंका नहीं। गोकी महिमा कहाँतक वर्णन की जाय, इसके गोबर मूत्रतक अनेक रोगोंके जन्तुओंको मारनेमें परमोपकारी हैं। आयुर्वे-

दमें इन चीजोंके अनेक गुण लिखे गये हैं। हमारी खेती तथा अन्य कामोंके लिये जैसे बैल उपयोगी हैं, वैसे अन्य पशु नहीं।

गो साक्षात् क्षमा और शान्ति तथा परोपकारकी मूर्ति है। इसलिये हिन्दुओंके सभी सम्प्रदायोंके मनुष्य कृतज्ञतावश गोरक्षाके प्रति आदर और प्रेम करना अपना कर्त्तव्य समझते हैं। आर्थिक दृष्टिसे भी गो एक बड़ा उपयोगी पशु है। क्योंकि भैंस आदि अन्य दूध देनेवाले पशुओंकी अपेक्षा इसपर कम खर्च करना पड़ता है और लाभ अधिक होता है।

मनुष्य-यज्ञ—यह अतिथि-सत्कार है। गृहस्थको हमेशा भोजनके पहिले यदि कोई अतिथि आया हो तो उसका सत्कार कर और उसको खिलाकर स्वयं खाना चाहिये।

इस अतिथि-सत्कारको साधारण मिहमानदारी न समझना चाहिये। कोई भी भूखा-प्यासा अन्न-जल मांगता हुआ आवे तो उसे उन वस्तुओंको देना ही मनुष्य-यज्ञमें गिना जाता है। बालको! तुमने रन्तिदेव राजाकी कथा सुनी है?

कान्तिलाल—हमने नहीं सुनी है, कृपया कहिये।

गुरुजी—तो सुनो, बात तो छोटी है, लेकिन खूब याद रखने योग्य है। पूर्वकालमें रन्तिदेव नामका एक राजा था। उसने बड़े बड़े यज्ञ कर उन यज्ञोंमें अपना सब धन ब्राह्मणोंको दे डाला था। एक दिन वैश्वदेव कर कोई अतिथि आया है, यह देखने वह बाहर गया और वहां उसने चिल्लाकर पूछा कि कोई भूखा-प्यासा है? वहां एक चाण्डाल पड़ा हुआ था, वह खड़ा होकर कांपता-लथड़ता राजाके पास आया और कुछ खानेको मांगा। राजाके घरमें थोड़ा

ही खानेको रहा था तो भी उसने उसे उस भिखारीको दे दिया और स्वयं अन्न विना खाये घरमें थोड़ा पानी था, उसे ही पीकर दिन काटनेका विचार किया। इधर भिखारीने रोटी खाकर पानी मांगा। वह भी उसने दिया। अब अपने प्राण धारण करनेका भी साधन न रहा। वे भिखारी जो चाण्डालके रूपमें आये हुए स्वयं धर्मराज थे, उसके सामने प्रकट हुए और राजासे कहा, मैं तेरा परोपकार देख बहुत प्रसन्न हूं—मांग, जो मांगेगा वही वरदान दूंगा। उस समय राजाका दिया हुआ उत्तर सुननेके योग्य है। राजाने कहा—"धर्मराज! जो तुम मुझपर प्रसन्न हुए हो और वरदान मांगनेको कहते हो तो मैं इतनी बात मांगता हूं कि मुझे स्वर्ग न चाहिये, मोक्ष न चाहिये, मुझे तो इतना चाहिये कि जो प्राणी दुःखी हों उनके अन्दरमें रहकर उनका दुःख मैं भोगूं।"

धर्मशिक्षणकी सारी क्लास इस मनोहर कथाको सुन स्तब्ध हो गई। फिर उनमेंसे एक बालकने पूछा।

रमाकान्त—गुरुजी, धर्मराजने चाण्डालका वेश किस रीतिसे लिया होगा?

गुरुजी—धर्मराजने चाण्डालका वेश धारण किया और अन्न-पानी मांगा, इसका अर्थ यही है कि इस चाण्डालने जो अन्न-पानी मांगा, वह धर्महीने मांगा था। धर्म ही हमें कहता है कि नीचसे नीच श्रेणीका मनुष्य भी यदि भूखा प्यासा हो और हमारे पास अन्न-जल मांगने आवे तो हमें उसे देना ही चाहिये, अर्थात् देना ही हमारा धर्म है।

—

[२७]

श्राद्ध

आश्विन मासका यह कृष्णपक्ष है, इसमें हिन्दू गृहस्थ श्राद्ध किया करते हैं।

गुरुजी—क्या तुम श्राद्धका अर्थ समझते हो ?

बालक—श्राद्धका अर्थ सरस भोजन करना है।

गुरुजी—(हंसकर) श्राद्धका अर्थ जीमना नहीं। हमारे बड़े प्राचीन रिवाजोंके गूढ़ अर्थको तो लोग भूल गये हैं और उनके केवल बाहरी आडम्बरमात्रका अनुसरण करने लगे हैं। श्राद्धके विषयमें भी ऐसा ही हुआ है। हम जैसे देवताओंकी पूजा करते हैं, उसी रीतिसे हम अपने पूर्वजोंका; स्वर्गस्थ मा-बाप और दूसरे सगे-सम्बन्धियोंका स्मरण कर, मानो वे जीवित ही हैं इस भांति विचारकर, उनका पूजन करते हैं। इसीका नाम श्राद्ध है। जो श्राद्धसे किया जाय, वही श्राद्ध कहलाता है। श्रद्धाका अर्थ विश्वास है। यदि वे स्वर्गमें भी हैं तो भी हमें भूलें नहीं, और इसलिये हमें भी उन्हें भूलना न चाहिये—यही श्राद्धका तात्पर्य है। अतएव हमारे शास्त्रकारोंने उनके स्मरण करनेके लिये कुछ दिन नियत कर दिये हैं। असलमें तो हर एक महीनेमें श्राद्ध करनेका रिवाज था, किन्तु इस मासिक श्राद्धके कुछ दुष्कर होनेके कारण अब केवल वर्षमें एक बार मरणतिथिके दिन तथा आश्विनके पितृपक्षमें तिथिके अनुसार एक दिन श्राद्ध करनेका रिवाज हो गया है।

शंकर—गुरुजी ! यह रिवाज बहुत अच्छा है, इससे हम अपने सगे-सम्बन्धियोंको कभी न भूलेंगे ।

गुरुजी—और उन्हें जो अच्छा न लगे उस कामके करनेसे हमें शरमाना चाहिये; क्योंकि हमारे शुभ कर्मोंसे वे प्रसन्न होते हैं और खोटे कर्मोंसे दुःखी होते हैं । अपने पूर्वजोंपर भक्ति रखना और उन्हें स्मरण कर उनके सदृश पराक्रमी होना, तथा जो हमारे प्राचीन पूर्वजोंमें बड़े बड़े ऋषि, तपस्वी और ग्रन्थकार हो गये हैं उनके नामका भी स्मरण करना इत्यादि हमारे शास्त्रकी विधि है, इसलिये नित्य देव-तर्पणके साथ साथ ऋषि-तर्पण और पितृ-तर्पण करनेका आदेश है । यही बात मैं पहले पंच महायज्ञमें पितृयज्ञके विषयमें कह चुका हूं । तर्पणका अर्थ तृप्त करना वा प्रसन्न करना है । जिससे पितृलोग प्रसन्न हों वैसा ही आचरण करना, यही तर्पणका गूढ़ अर्थ है । यह तर्पण जलकी अञ्जलि देकर किया जाता है । अपने पूर्वजोंसे हम अपना सम्बन्ध सदा अविच्छिन्न रखें, यही इस क्रियाका प्रयोजन है ।

उमापति—महाराज, क्या ऐसे रिवाज पृथ्वीकी दूसरी प्रजाओंमें भी हैं ?

गुरुजी—हां, ईरान, ग्रीस, रोम आदि अनेक प्राचीन प्रजाओंमें यह रिवाज था । यह पारसियोंमें अबतक है और जापानमें भी है । कुछ समय पहले रूस और जापानका युद्ध हुआ था, समें जापानवासी यह माना करते थे कि उनके बाप-दादे अभी जीवित हैं और उनकी तरफसे युद्धमें लड़ रहे हैं ।

व्रत, उत्सव और यात्रा

कुछ दिन हुए प्रयागमें कुम्भमेला होनेका समाचार प्रकाशित हुआ था। अभी संयुक्त प्रान्तमें महाशिवरात्रिके उत्सवपर काशीविश्वेश्वरके दर्शनार्थ जानेवाले लोगोंके लिये खास ट्रेनें चली थीं, यह समाचार पढ़ा है। होलीके त्यौहारके समीप होनेके कारण, 'होली संशोधक मण्डली' की ओरसे किये जानेवाले कामका समाचार पत्रोंमें आज ही प्रकाशित हुआ है। अतएव गुरुजीने हिन्दूधर्मके व्रत, उत्सव और यात्रासम्बन्धी लड़कोंको कुछ परिचय देनेका विचार किया। इतनेमें वसन्त पूछ बैठा—गुरुजी, आपने जो महायज्ञ बतलाये, उनके सिवाय दूसरे महायज्ञ भी हमने रामायण और महाभारतमें पढ़े हैं। रामचन्द्रजीने अश्वमेध यज्ञ किया था और युधिष्ठिरने राजसूय किया था। क्या ये सब महायज्ञ नहीं?

बहुत लोग इसमें भाग लेते हैं और ये बहुत दिनतक चलते हैं, इस कारण ये महायज्ञ कहे जाते हैं। लेकिन ईश्वरकी भक्ति करना, विद्या पढ़ना, पूर्वजोंका स्मरण रखना, भूखे-प्यासोंको अन्न-जल देना और प्राणीमात्रके प्रति दया रखना अथवा उन्हें पालना—ये पांच तो हर एक आदमीको करने ही चाहिये, और वे बहुत ही आवश्यक हैं, अतएव महायज्ञ हैं—

चुन्नीलाल—गुरुजी, क्या इन दो तरहके यज्ञोंके सिवाय तीसरी तरहके भी कुछ यज्ञ होते हैं?

गुरुजी—हां, हर एक ऋतुमें करनेके यज्ञ हैं।

सत्यदेव—अब तो इन्हें कोई करता नहीं।

गुरुजी—करते हैं। जैसे अग्निपूजामेंसे शिवपूजा निकली और इसी प्रकार वैदिक धर्मके बाहरी आकारमें दूसरे बहुत फेरफार हुए, वैसे ही इस धर्मके प्राचीन यज्ञोंने भी नवीन रूप धारण कर लिया है। तुमने नवरात्रके दिनोंमें जौ बुवाये थे और माताके आगे होम किया था, यह उस समयका यज्ञ था जब वर्षाऋतुका अन्त और शरदऋतुका आरंभ हुआ था। इसी प्रकार अब थोड़े दिन बाद तुम होली जलाकर उसमें नये आमका मौर, गेहूंकी बालें आदि होम करोगे, यह क्या है? यह वसन्त ऋतुका यज्ञ है। इन सब यज्ञोंका यह तात्पर्य है कि प्रभु-कृपासे इस जगत्‌में हमें जो जो अच्छे पदार्थ मिलते हैं, उन्हें प्रभुको समर्पण कर हमें काममें लेना उचित है। इन यज्ञोंको यदि हम सब मिलकर करें तो ये उत्सव बन जाते हैं। हमारे सब उत्सव इस रीतिसे अमुक ऋतुके यज्ञमेंसे अथवा अमुक देवता-के यज्ञमेंसे उत्पन्न हुए हैं। इसके सिवाय यज्ञ करनेवालेको पवित्रता-से इन्द्रिय और मनको वशमें करनेके कितने ही नियम पालन करने होते हैं। उन नियमोंको 'व्रत' कहते हैं, जैसे अमुक समयतक न खाना—केवल फलमात्र खाकर रहना—जिससे यह स्थूल शरीर वशमें रहे, इन्द्रिय और मन पवित्रताके मार्गमें चलें। सोमप्रदोष, एकादशी, शिवरात्रि आदि उपवास मन और इन्द्रियोंको वशमें कर ईश्वरका भजन और पूजन करनेके लिये ही होते हैं। हिन्दु-धर्मकी पुस्तकों और लोकरूढ़िमें तीर्थयात्राकी बड़ी महिमा है। इस प्रकार-की ईश्वर-भक्ति बड़े उत्कट प्रेमसे करनी चाहिये। जहां नदी, पर्वत,

वन आदि स्थलोंमें प्रभुकी ललित लीलायें विशेषरूपसे दृष्टिगोचर हों, उन स्थलोंमें जाना शास्त्रमें कहा गया है। हिमालयसे गङ्गाजी निकलती हैं। आगे चलकर गङ्गाजीके साथ यमुना मिलती हैं, और आगे चलकर गङ्गा-यमुनाका मिला हुआ जल लहराता लहराता एक स्थलपर दिशा बदलता है, और उसके साथ दूसरी छोटी नदियां मिलती हैं। ये दृश्य बहुत भव्य और रमणीक होते हैं। इस कारण गङ्गाद्वार, बदरिकाश्रम, हरिद्वार, प्रयाग, काशी आदि यात्राके स्थान बने हैं। इसी प्रकार जहांपर राम, कृष्ण, व्यास आदि महापुरुष बसे कहे जाते हैं, वे स्थल भी इन महापुरुषोंके सम्बन्धसे बड़ी महिमाके गिने जाते हैं। जैसे मथुरा, द्वारिका आदि नगरियां तथा नर्मदा, गोदावरी आदि नदियोंके किनारोंके तीर्थस्थान।

यात्रासे बड़ा भारी लाभ यह है कि भिन्न भिन्न देश और मनुष्यों-के समागम और महात्माओंके सत्संगसे ज्ञान और प्रेमकी वृद्धि होती है। तीर्थोंकी यात्राका यही तात्पर्य है!

---

[२६]

सामान्य धर्म

पहले दिन गुरुजीने यह कहा था कि कल धर्मशिक्षणकी कक्षा पाठशालाके मकानमें होगी। तदनुसार दूसरे दिन स्कूल खुलते ही विद्यार्थीगण क्या देखते हैं कि धर्मशिक्षणके विशाल भवनके द्वारपर और अन्दरकी दीवारोंपर सुन्दर शिलालेख लग रहे हैं। उनमें सीधे, मनोहर तरह तरहके रंगबिरंगे और सुन्दर बेलसे अलंकृत अक्षरोंमें

हिन्दू-धर्मकी पुस्तकोंमेंसे अच्छे अच्छे वचन (हिन्दी भाषानुवाद-सहित) उद्धृत थे। प्रविष्ट होते ही ड्योढ़ीकी मिहरावपर यह लिखा था:—

यतो धर्मस्ततो जयः।

'जहां धर्म वहां जय' यह बड़े सुनहरी अक्षरोंमें लिखा हुआ था। और उसके नीचे इस तरहका लेख था:—

धर्मं चरत माऽधर्मं सत्यं वदत मानृतम्।
दीर्घं पश्यत मा ह्रस्वं परं पश्यत माऽपरम्॥

धर्म करो, अधर्म मत करो; सत्य बोलो, असत्य न बोलो; दीर्घ दृष्टि रखो, संकुचित दृष्टि न रखो; दृष्टि ऊंची रखो, नीची न रखो। अर्थात् उदारता रखो।

फिर अन्दर आते हुए सामनेकी भीतपर यह लिखा था—

सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः।

'सच बोल, धर्म कर, अपने विद्याभ्यासमें त्रुटि न कर।

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितंचयत्।

गीता अ० १७ श्लो० १५

वाक्य जो बोला जाय, वह किसीको उच्चाटन करनेवाला न हो, साथ ही सत्य, मीठा और हितकारी हो।

अहिंसा सत्यमस्तेयं कामक्रोधलोभता।
भूतप्रियहितेच्छा च धर्मोऽयं सार्ववर्णिकः॥

हिंसा न करना, सत्य बोलना, चोरी न करना, काम क्रोध लोभ

मोह न करना, और प्राणीमात्रके प्रिय और हितकी इच्छा करना, यह सब वर्णोंका धर्म है।

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
एतं सामासिकं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनुः॥

हिंसा न करना, सत्य बोलना, चोरी न करना, पवित्रता रखना, इन्द्रियोंको वशमें करना, यह चारों वर्णोंका साधारण धर्म मनुजीने बतलाया है।

इसके सामने दीवारपर बड़ा शिलालेख है—

विद्वद्भिः सेवितः सद्भिः नित्यमद्वेषरागिभिः।
हृदयेनाभ्यनुज्ञातो यो धर्मस्तं निबोधत॥

विद्वान् जो सत्पुरुष हों और सदा रागद्वेषसे मुक्त हों, वे जिसकी सेवा करते हों और जो हृदयसे पसन्द हुआ हो उसे तुम धर्म समझो।

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्॥

धर्मका सार सुनो और सुनकर हृदयमें धारण करो। वह यह है कि जो हमें अपने लिये अनुकूल न हो वह दूसरोंके लिये न करना चाहिये।

श्लोकार्धेन प्रवक्ष्यामि यदुक्तं ग्रन्थकोटिभिः।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्॥

आधे श्लोकमें मैं तुम्हें वह बात कहूंगा जो करोड़ों ग्रन्थोंमें कही गयी है। और वह यह है कि दूसरेका उपकार करना पुण्य है; और दूसरेको पीड़ा देना पाप है।

दूसरी दो दीवारोंपर आमने-सामने लेख थे। एकमें यह खुदा हुआ था—

दैवी सम्पद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।

दैवी सम्पत् (गुण वृत्ति) मोक्ष देती है, आसुरी सम्पत् बन्ध उत्पन्न करती है। और इसके सामने लड़कोंको सदा दृष्टिमें रहे, इस प्रकारसे एक निम्नलिखित श्लोक गहरे रङ्गसे अङ्कित था—

आदित्यचन्द्रानिलोऽनलश्च द्यौ र्भूमिरापो हृदयं यमश्च।
अहश्च रात्रिश्च उभे च सन्ध्ये धर्मोऽपि जानाति नरस्य वृत्तम्॥

सूर्य, चन्द्र, वायु, अग्नि, आकाश, पृथ्वी, जल, हृदय, नियन्ता ईश्वर, दिन, रात्रि, प्रभात, और सायंकाल और धर्म स्वयं ही इस मनुष्यके आचरणको जानता है।

बालक इन सबको पढ़ते हैं। इतनेमें कुछ देर बाद पाठशालाका घण्टा बजा और धर्म-शिक्षणकी क्लास आकर इकट्ठी हुई। गुरुजी आये, सबने नमस्कार किया और शिक्षणका काम शुरू हुआ।

गुरुजी—बालको, क्या तुम्हें सजाया हुआ यह भवन अच्छा लगता है?

बसन्त—जी हां, बहुत सुन्दर लगता है। हमेशा इस प्रकारसे ही रखा जाय तो कितना अच्छा हो।

गुरुजी—अच्छा, ऐसा ही रखेंगे, पर साथ ही साथ तुम भी शिलापर खुदे हुए वाक्योंको अपने मनमें अङ्कित रखना।

रमाकान्त—गुरुजी, इन्हें हम बार बार पढ़ेंगे और याद रखेंगे। हमें ये बहुत पसन्द हैं। किसने इन शिलाओंपर श्लोक खोदकर लिखे हैं?

गुरुजी—मुरारि नामक एक चित्रकारने इन्हें लिखा है।

विचारचन्द्र—गुरुजी, मैं इसे जानता हूं। मेरे घरसे वह थोड़ी ही दूर रहता है। वह बहुत अच्छा आदमी है।

गुरुजी—वह मनुष्य बहुत अच्छा है वा चित्रकार बहुत अच्छा है?

विचारचन्द्र—गुरुजी, वह आदमी बहुत अच्छा है, इसे तो हम नेत्रहीसे देख रहे हैं।

गुरुजी—अच्छा, वह चित्रकारका काम तो अच्छा करता है, लेकिन वह दारू पीकर पड़ा रहता है और काम समयपर करके नहीं देता, सागुनके तख्ते कहकर देवदारके तख्ते लगाता है और अपनी मिहनतके अनुसार दाम न लेकर हमें धोखा देता है—भला ऐसे आदमीको हम कैसा कहें!

विचारचन्द्र—वह चितेरा चाहे जैसा हो, पर आदमी खराब है।

गुरुजी—अच्छा, तो एक बात सब ध्यानमें रखो कि मनुष्यके अपने विशेष धन्धेकी जानकारीके अलावा हर एक मनुष्यको मनुष्य बननेके लिये कितने ही सामान्य रीतिके गुण सीखने चाहिये! इन गुणोंको हिन्दू-धर्मके शास्त्रोंमें *'सार्ववर्णिक'* अर्थात् सब वर्णोंके सामान्य धर्म बतलाये हैं। विशेष धर्म—अमुक वर्णके खासधर्म चाहे जितने हम क्यों न पालें पर सामान्य धर्मके बिना वे निरर्थक हैं।

वे धर्म उस भीतकी पट्टियोंपर लिखे हुए हैं जिन्हें तुमने पढ़ा होगा।

रमाकान्त—हां महाराज, इनमें जो आधे श्लोकमें अधर्मकी व्याख्या की गयी है, वह मुझे बहुत पसन्द है:—

परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्

दूसरेका उपकार करना ही पुण्य है, और दूसरेको पीड़ा देना ही पाप है।

---

[३०]

आत्मा (१)

गुरुजी—बालको! परमेश्वरके विषयमें हिन्दूधर्मका जो कथन है उस सम्बन्धमें हम यत्किञ्चित् समझ गये हैं, और इस दुनियामें हम किस तरह रहें कि परमात्मा हमें मिल सके, इस विषय पर भी हिन्दूधर्मके मुख्य विचार हम देख चुके हैं। अब हम अपने विषयके तीसरे भागकी आलोचना करते हैं। इस प्रसंगमें जो सवाल हमें हलकरने होंगे वे निम्नरीतिके हैं:—हम सचमुच कौन हैं? कहांसे आये हैं और हमें कहां जाना है? यदि यह मान लिया जाय कि यह प्रत्यक्ष शरीर ही हमारी आत्मा है, हम जन्मके पहले कुछ भी न थे और मरनेके बाद भी कुछ न रहेंगे, इस शरीरको चितामें भस्म होनेके बाद हमें कहीं किसीको जवाब देना नहीं, इसलिये खाओ पीओ मौज करो, तो ईश्वर और धर्मकी चर्चा करना उपहासमात्र है। यदि यही मत स्वीकृत हो तो अबतक परमेश्वर और उसके अनुकूल मार्गसम्बन्धी जो जो विचार हमने किये हैं वे सब निरर्थक हैं। पर यह मत ठहर नहीं सकता। वास्तवमें

बात यह है कि हम आत्मरूप हैं। वह आत्मा हमारी इस देहके जन्मसे पहले थी और मृत्युके समय हमारी देहके जलकर भस्म हो जानेपर भी रहेगी।

प्राचीन ऋषियोंके समयमें इस विषयको जाननेकी कैसी उत्कट इच्छा एक तुम्हारे ऐसे बालकको हुई, इस विषयमें मैं तुम्हें एक कथा सुनाता हूं।

प्राचीन कालमें नचिकेता नामका एक विश्वासयोग्य बालक था। उसका बाप यज्ञमें बूढ़ी, कूबड़ी और खलड़ गायें ब्राह्मणोंको दानमें दे रहा था। यह देख नचिकेताने मनमें सोचा कि पिताजी निकम्मी वस्तुओंका तो दान कर रहे हैं, लेकिन अपनी एक भी प्रिय वस्तु नहीं दे रहे हैं, इसलिये इस यज्ञसे क्या लाभ ? अतएव उसने पितासे कहा—"पिताजी ! तुम निकम्मी वस्तुओंका दान तो करते हो,किन्तु एक भी प्यारी वस्तु किसीको तुमने नहीं दी।" उसने एक बार कहा, दो बार कहा। इतनेमें पिता चिढ़कर बोले—"ले तुझे ही मैं दे डालता हूं।"

नचिकेता—"आप किसे देंगे ?"

पिता—(और चिढ़कर) "यमराजको।" नचिकेताने विचार किया कि जैसे यह अनाज उगता है और काटा जाता है वैसे ही मनुष्यका जन्म होता है और मृत्यु होती है—बहुत मरे हैं और बहुत मरेंगे, इसलिये मृत्युसे डरना नहीं। फिर उसने उत्तर दिया—"मुझे खुशीसे यमके घर भेजो।" पिताने उसे यमके घर भेजा। उस समय यमराज घरपर न थे। इसकारण उसे तीन दिन यमराजके घर भूखे-प्यासे बाट देखते हुए पड़ा रहना पड़ा। यमराज घर आये और

नचिकेताको देखकर, अतिथिरूपसे उसका सत्कार करनेमें विलम्ब हुआ इसकारण, उससे क्षमा मांगी, और तीन दिन बिना सत्कार उसे पड़ा रहना पड़ा, इसकारण वरदान मांगनेके लिये उससे कहा। इसके अनुसार नचिकेताने वरदान मांगे—हे यमराज ! मृत्युके बाद मनुष्यकी क्या गति होती है, यह मुझे कहो। कुछ लोग कहते हैं कि मृत्युके बाद भी जीव रहता है, और कुछ यह कहते हैं कि उसका नाश हो जाता है—इनमेंसे सच क्या है, यह मुझे बतलाओ।" यमराज कहने लगे—नचिकेता, यह विषय बहुत सूक्ष्म है, इसे समझना सहल नहीं, इसलिये इसके बदले कोई दूसरा वरदान मांग लो।" यह कहकर यमराज उसे पुत्र-पौत्रका सुख, दीर्घ जीवन और हाथी, घोड़े, रथ, खजाने, महल इत्यादि संपत्ति देने लगे; परन्तु नचिकेताने इन्हें लेनेसे साफ इनकार किया और बड़े जोशसे कहा—"हे देव ! इन हाथी, घोड़े रागरंगको अपने ही पास रखो। मुझे तो दुनियाके सारे सुख तृणसमान मालूम होते हैं। मुझे तो केवल एक ही वस्तु चाहिये और वह यह है कि आत्मा है वा नहीं, और है तो कैसी है, मुझे यही बतलाइये।" यमराज नचिकेताका यह उत्तर सुन बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने उसे आत्माके विषयमें ज्ञान दिया।

इतना कहकर गुरुजीने पाठ समाप्त किया, लेकिन एक विद्यार्थी पूछ उठा—"गुरुजी, यमराजने जो नचिकेताको आत्माके विषयमें ज्ञान दिया था उसे तो आपने हमें बतलाया ही नहीं।"

गुरुजी—यमराजने नचिकेतासे कहा था कि यह विषय अति सूक्ष्म है। सचमुच तुम्हारी इस विषयमें उत्सुकता देख मैं बहुत

प्रसन्न हूं। अतएव यमराजके दिये हुए ज्ञानमेंसे कुछ एक दो विषय
तुम समझ सकते हो जिन्हें मैं बतलाता हूं।

यमराजने कहा—"नचिकेता; दो पदार्थ संसारमें मनुष्यके सामने आकर खड़े रहते हैं—एक श्रेय और दूसरा प्रेय। (प्रेय अच्छा, प्रिय, मनपसन्द और श्रेय हितकारक) इन दोनोंमेंसे चतुर मनुष्य दूसरी वस्तु ही पसन्द करता है, और उसे ही तुमने पसन्द किया, इस कारण मैं तुमसे बहुत प्रसन्न हूं अब आत्माके विषयमें जो मैं कहता हूं उसे सुनो। शरीर तो एक रथ है और इसमें रथके स्वामी-भांति अधिरूढ़ आत्मा है।

बुद्धि इसका सारथी है, मन इन्द्रियरूप घोड़ोंकी लगाम है और ये घोड़े विषयोंकी ओर दौड़ते हैं। इन्द्रियरूपी घोड़े इधर उधर, मनमानी ओर दौड़कर, रथको, अपने आपको, और रथमें बैठे हुए स्वामीको गड्ढेमें न डाल दें, इसकारण बुद्धिरूपी सारथी अच्छा होना चाहिये। यदि सारथी अच्छा होगा तो वह रथके स्वामी अर्थात् आत्माको उसके परमपद-परमात्माके धामतक—पहुँचा देगा।"

नचिकेता इस ज्ञानको पाकर पिताके पास आया और पिताने उसे प्रेमसे बुलाया। दृष्टान्तरूपसे इस कथाका सारांश यह है कि जो श्रद्धावान् है, जो मरनेसे नहीं डरता, और जो दुनियाके सुखका लालची नहीं, वही आत्माको जान सकता है।

आत्मा (२)

शरीरमें होते हुए भी शरीरसे जुदा है और जुदे प्रकारका है ।

विचारचन्द्र—गुरुजी, आपने कल हमें नचिकेता और यमराज-की बात कही वह हमें बड़ी रोचक लगी, पर उसमें यमराजने जो यह कहा कि आत्मा इस शरीररूपी रथमें बैठा हुआ रथका स्वामी है, समझमें नहीं आता। शरीरसे आत्मा जुदी किस रीतिसे हो सकती है ?

गुरुजी—तुम्हारा प्रश्न उचित है। सारे दृष्टान्त अधूरे हैं, यह परमेश्वरके विषयमें बोलते हुए हमें कहना पड़ा था। क्या तुमने उस बातका स्मरण रखा है ? उसी रीतिसे यहां भी तुम्हें समझना चाहिये। श्वेतकेतु और उसके पिताकी कथा तुम्हें याद होगी। उन दोनोंकी आपसकी बातचीतमें एक बात यह थी कि पिताने बहुत साधारण दृष्टान्तसे यह समझाया था कि शरीरसे जुदी आत्मा है और वह शरीरके एक कोनेमें—रथमें रथके स्वामीकी भांति बैठी हुई नहीं, बल्कि सम्पूर्ण शरीरमें व्याप्त है। पिताने श्वेतकेतुसे कहा "श्वेतकेतु ! जो इस झाड़के मूलमें कुल्हाड़ी चलायी जाय तो इसके जीवित होनेके कारण इसमेंसे रस निकलेगा, इसके बीचके धड़में कुल्हाड़ी चलाई जाय तो भी इसके जीवित होनेके कारण इसमेंसे रस निकलेगा। परन्तु यदि इसकी शाखामेंसे जीवन जाता रहे तो वह सूख जायगी, दूसरी शाखामेंसे जीवन जाता रहे तो भी वह सूख जायगी, तीसरीमेंसे जाता रहे तो भी सूख जायगी—और इस क्रमसे

यदि सारे वृक्षमेंसे जीवन चला जाय तो सारा वृक्ष सूख जायगा। तब यह समझना चाहिये कि जीवका वियोग ही मरना है। जीव स्वयं नहीं मरता, परन्तु इसके वियोगके कारण यह जिसमें रहता था वह देह मरती है।" इस प्रकार श्वेतकेतुके पिताने उसे एक सीधा दृष्टान्त देकर यह समझाया था कि देहमें आत्मा रहती है, पर वह देह आत्मा नहीं है।

फिर, यह आत्मा सचमुच कितना अद्भुत पदार्थ है और हमें कितनी प्यारी है, इसे समझनेके लिये एक बात सुनो—देवता और असुरोंने सुना कि आत्मा बुढ़ापा, मृत्यु, रोग, भूख, प्यास आदि सब दोषोंसे रहित है, और प्रजापति इस विषयका ज्ञान देते हैं। अतएव देवताओंके राजा इन्द्र और असुरोंके राजा विरोचन, दोनों प्रजापतिके पास गये और ३२ वर्षतक ब्रह्मचर्य पालन कर उनके पास रहे। ३२ वर्ष होनेपर प्रजापतिने उनसे पूछा "हे इन्द्र और विरोचन! तुम क्या सीखने आये हो?" दोनोंने कहा "महाराज, आत्मा क्या वस्तु है, इसे जाननेके लिये हम आये हैं।" तब प्रजापतिनें उनसे यह कहा—"देखो, आंखमें जो यह पुरुष देख पड़ता है, वही आत्मा है।"

इन्द्र-विरोचन—"पानीमें वा शीशेमें जो देख पड़ता है, क्या वही आत्मा है?"

प्रजापति—"हां।"

फिर दोनोंने एक पानीभरे बासनमें देखा और आकर कहा—

"महाराज, हमने आत्माको देखा नखसे शिखतक, सिरसे पैरतक।"

प्रजापति—"अच्छा।"

फिर इन्द्र-विरोचन दोनों अपने अपने घर चल पड़े। विरोचन अपने असुरोंके मण्डलमें पहुंचा और सबको यह वस्त्र अलङ्कार पहननेवाली देह ही आत्मा है, इस जड़वादका उपदेश दिया। लेकिन इन्द्रको इससे सन्तोष नहीं हुआ। वह आधे रास्तेसे ही पीछे फिरा और प्रजापतिके पास आया। ३२ वर्षपर्यन्त ब्रह्मचर्य पालन कर फिर प्रजापतिसे हाथ जोड़कर उसने पूछा—"महाराज, ऐसी आत्मासे मुझे सन्तोष नहीं हुआ। इस शरीरको जैसे वस्त्र अलङ्कार पहनाये जाते हैं, वैसे ही वस्त्र अलङ्कारवाली यह आत्मा देख पड़ती है। यदि शरीर लँगड़ा हो तो वह भी लंगड़ी है, शरीरमें आंख नहीं तो वह भी अन्धी मालूम होती है। ऐसी आत्मामें मुझे कुछ भी अनुराग नहीं।" तब प्रजापतिने कहा—"अच्छा, तो जो स्वप्नमें फिरती हुई वस्तु नजर आती है वही आत्मा है। इस उपदेशको सुन इन्द्र चला गया लेकिन फिर आधे रास्तेसे लौट आया और फिर ३२ वर्ष ब्रह्मचर्य पालनकर प्रजापतिके पास बैठकर पूछने लगा—"महाराज, यह तो ठीक है कि शरीरके अन्धे लूले होनेपर भी स्वप्नमें दिखाई देनेवाली आत्मा अन्धी लूली नहीं होती, पर स्वप्नमें इस आत्माको यदि कोई मारता है तो वह दुःखी होती है, रोती है। ऐसी आत्मामें मुझे कुछ आनन्द प्रतीत नहीं होता।" फिर प्रजापतिने कहा—"अच्छा, तो स्वप्नरहित गहरी नींदकी दशामें जो रहता है वही आत्मा है।" इन्द्र इस उपदेशको सुनकर चला गया, लेकिन इससे संतुष्ट न होकर आधे रास्तेसे लौट और ३२ वर्ष ब्रह्मचर्य पालन कर प्रजापतिसे कहा—"महाराज! यह तो सच है कि आपकी बतलायी हुई इस नयी आत्मामें कोई दुःख प्रतीत नहीं होता, किन्तु

उस दशामें 'मैं हूं' यह गाढ़ निद्राके कारण कुछ भी प्रतीत नहीं होता। इस आत्मासे भला क्या लाभ! इसलिये मुझे तो ऐसी आत्मा भी इष्ट नहीं।" फिर प्रजापतिने पांच वर्ष (कुल १०१ वर्ष) ब्रह्मचर्य पालन कराकर इन्द्रको आत्माका उपदेश किया, इस बातका तात्पर्य यह कि जो अपने आनन्दका स्थान है, जो होना हम चाहते हैं वह आत्मा जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति (गाढ़ निद्रा) इन तीनों अवस्थाओंमें रहती हुई प्रतीत होती है, किन्तु ऐसा होते हुए भी वह इन तीनों अवस्थाओंसे दूर है।

---

[३२]

जीवात्मा और परमात्मा (१)

विचारचन्द्र—गुरुजी, जिस अद्भुत आत्माके विषयमें कल आपने कहा था उसे किसने उत्पन्न किया होगा? और वह किस वस्तुमेंसे उत्पन्न हुई होगी?

गुरुजी—हिन्दू-धर्ममें आत्माको उत्पन्न हुआ नहीं मानते। वह अनादि है, उसका अमुक दिनसे आरम्भ नहीं होता।

विचारचन्द्र—गुरुजी, फिर हम सब क्यों ईश्वरके बालक कहलाये जाते हैं?

गुरुजी—इसका अर्थ यह है कि जैसे अग्निमेंसे चिनगारियां निकलती हैं वैसे ही हम ईश्वरमेंसे निकलते हैं। किन्तु चिनगारियां होनेसे कोई नया पदार्थ तो उत्पन्न होता नहीं, बल्कि वे तो अग्निके बड़े भागोंमेंसे अलग होकर छोटे दिखाई देते हैं और वे स्फुलिङ्ग

कहे जाते हैं। इसी प्रकार आत्मा और परमात्मा तो एक ही वस्तु हैं।

विचारचन्द्र—लेकिन महाराज, जैसे अग्निमेंसे स्फुलिङ्ग निकलते हैं वैसे हम परमात्मामेंसे निकले हुए हैं, यह दृष्टान्त क्या बिल्कुल ठीक है?

गुरुजी—हां, लेकिन इस दृष्टान्तका यह अर्थ है कि परमात्माकी शक्ति जिसे प्रकृति कहते हैं और जो हमारे आसपास फैली हुई है, उससे हमारी देह बनी है और उस देहके कारण हम ये जीव बने हुए हैं। पर जैसे स्फुलिङ्ग अग्निके बाहर निकलते हैं वैसे हम कुछ परमात्माके बाहर निकलते नहीं—परमात्माके बाहर भला क्या हो सकता है? परमात्मा सर्वव्यापक, सर्वरूप है।

विचारचन्द्र—गुरुजी, ठीक। तो इसी कारण प्रकृति माता है, यह ठीक है न?

गुरुजी—हां, लेकिन परमात्मा और परमात्माकी शक्ति, ये दो जुदी वस्तुएं नहीं। जैसे तेज और तेजकी शक्ति, जैसे दिया और उसकी प्रकाश करनेवाली शक्ति, ये दो जुदी नहीं हैं। जो परमात्मा है वही उसकी शक्ति है, और इस कारण परमात्माको पिता और माता दोनों कहा जा सकता है। इसके अलावा परमात्माके लिये एक दूसरी उपमा दी जाती है। क्या तुम उसे जानते हो?

हरिलाल—हां, राजाकी।

गुरुजी—ठीक, अब इसका कारण कहो।

हरिलाल—राजाकी भांति परमेश्वर भी हमारे लिये महात्माओं

द्वारा न्याय नीतिके और इस सृष्टिके नियम बांधता है, बुरे मार्गसे जाते हुए रोकता है और अच्छे मार्गसे हमें उन्नत करता है। हम दोष करें तो वह शिक्षा करता है, और अच्छे ढंगसे चलें तो प्रसन्न होकर पुरस्कार भी देता है। इसलिये शुभ कर्म और भक्ति दोनोंकी आवश्यकता है। गीतामें भी लिखा है कि भक्तको मैं बुद्धियोग देता हूं।

यथाश्लोकः—

ददामि तं बुद्धियोगं येन मामुपयान्तिते।

गीता अ० १० श्लो० १०॥

गुरुजी—ठीक, अब इसके साथ इतना ध्यानमें रखना चाहिये कि राजा तो कठोर न्यायकी मूर्त्ति है, और ये माता-पिता तो वात्सल्य (माता-पिताका पुत्र-प्रेम) की मूर्त्ति है। इसकारण जब यह दूसरा भाव विशेष रूपसे बतलाना हो तब हम ईश्वरको माता-पिताकी उपमा देते हैं। क्या कोई तीसरी उपमा दी जाती हुई तुम जानते हो?

लड़कोंने और कोई उपमा सुनी नहीं थी, इसकारण वे चुप रहे।

गुरुजी—जीव और ईश्वरको कितनी ही बार सखा—मित्रकी उपमा दी जाती है। राजाकी अपेक्षा माता-पिताकी उपमा कोमलता दरसाती है, किन्तु उसमें भी एक कमी है। माता-पिताके साथ हम आदरपूर्वक व्यवहार करते हैं, दुःखके समय उनका सहारा लेते हैं; किन्तु हृदय खोलकर पूरी पूरी छूटसे बिना संकोचके, दुःख सुखकी बात करना तो मित्रके ही साथ बन सकता है, इसकारण परमात्माको

गीतामें सखा अर्थात् मित्र कहा गया है। वेदका कथन है कि इस संसाररूप वृक्षपर दो मिले हुए सखारूप पक्षी बैठे हैं, उनमेंसे एक इस वृक्षके मीठे फल खानेकी कामना करता है और खाता है और दूसरा इन फलोंको देखता रहता है, पर खाता नहीं। खानेवाला पक्षी तो जीव है और केवल देखनेवाला परमात्मा है। हमारे हृदयमें भी हमारा और परमात्माका इकट्ठा वास है, किन्तु हम इस संसारके भोगोंमें फंस रहे हैं, और परमात्मा साथ रहता हुआ देखता और मित्रकी तरह हमें पापोंसे बचनेकी चेतावनी भी देता रहता है। इस बातका अनुभव विचार करनेपर हमारे अंतःकरणमें होता रहता है।

अब मैं एक और जाननेयोग्य बात कहता हूं। इन दो सखाओंके नाम अपने इतिहास-पुराणोंमें नर (जीव) और नारायण (परमात्मा) बतलाये गये हैं, और इन नर और नारायणके अवतार अर्जुन और कृष्ण थे। दो मित्र हैं, उनमें परमात्मा तो इस संसारमें जीवात्माको उचित मार्गपर चलाता है, अतएव कृष्ण इस संसाररूप रणक्षेत्रमें अर्जुनके सारथी बने।

कृष्ण ऐसे योगीराजको व्यासजीने अर्जुनका सारथी क्यों बनाया, इसका सूक्ष्म अभिप्राय आज लड़कोंने समझा और समझकर सब बहुत आनन्दित हुए।

---

[३३]

जीवात्मा और परमात्मा (२)

पहले दिनके पाठपर विचार कर दूसरा पाठ आरम्भ करना यह धर्म-रक्षाका प्रतिदिनका रिवाज था।

गुरुजी—बालको, गये कल तुमने जीवात्मा और परमात्मा-सम्बन्धी कितने दृष्टान्त समझे ?

बालक—तीन।

गुरुजी—वे क्या हैं

रमाशंकर—एक राजा-प्रजाका, दूसरा मा-बाप और बच्चोंका, और तीसरा दो मित्रोंका।

गुरुजी—इनमें क्या इस पिछले दृष्टान्तमें कोई कमी मालूम हुई ?

रमाशंकर—हां, हमारा और परमात्माका सम्बन्ध अकेला मित्र ऐसा नहीं। मित्र तो बराबरके होते हैं। क्या हम और परमात्मा कुछ बराबर हो सकते हैं ? मित्रके भावके साथ राजा-प्रजाके और मा, बाप, बच्चोंके भाव भी होने आवश्यक हैं।

गुरुजी—ठीक। किन्तु यह भी समझना चाहिये कि हमारा और परमात्माका सम्बन्ध किसी भी एक दृष्टान्तसे पूरा पूरा समझाया नहीं जा सकता। अच्छा, तुमने जो कहा था उसके अलावा तुम्हें मित्रके दृष्टान्तमें और कोई कमी समझमें आती है ?

रमाशंकर—नहीं गुरुजी।

गुरुजी—तो सुनो। मित्रकी देह एक दूसरेसे स्वतन्त्र है, किन्तु जीवात्माकी देह तो परमात्माकी देहमेंसे—हमारे आस-पासकी इस विस्तीर्ण प्रकृतिमेंसे—ही उत्पन्न हुई है, बल्कि उसका ही भाग है। इसकारण मित्रका दृष्टान्त भी पूर्णरीतिसे लागू नहीं होता। फिर कितने ही शास्त्रकारोंके अनुसार इसमें एक और कमी है। मित्रके दृष्टान्तमें यह है और यह दूसरा है, इस प्रकार दो गिने जा सकते हैं, पर परमात्मा तो वही है जो हमारी सबकी आत्मामें है। चैतन्य-

रूपसे हम सब एक ही हैं। यह पिछला भाग लड़कोंकी समझमें नहीं आ सका, यह बात गुरुजीने लड़कोंकी आकृतिसे जान ली।

गुरुजी—बालको, मुझे मालूम होता है कि तुम पिछले भागको नहीं समझे। अच्छा, अभी इसे रहने दो। (सब समुद्रके पास खड़े थे। समुद्र धीरे धीरे बढ़ता आता था और समुद्रकी लहरें एकके बाद दूसरी बढ़ती हो जाती थीं)।

गुरुजी—देखो, ये लहरें कैसी उछल रही हैं !

कान्तिलाल—हां, गुरुजी, बड़ा सुन्दर दृश्य है ! देखो यह लहर दूसरी लहरकी अपेक्षा कितनी बड़ी आ रही है !

गुरुजी—आओ, लहरें गिनें, देखें पांच मिनटमें कितनी आती हैं ?

कान्तिलाल—(गिनकर) पन्द्रह। गुरुजी, अब हम चलें; क्योंकि समुद्र बहुत बढ़ता आता है।

गुरुजी—समुद्र बढ़ता आता है वा लहरें ?

कान्तिलाल—क्या लहरें समुद्र नहीं है ? क्या लहरें कुछ समुद्रसे जुदी हैं ?

गुरुजी—जो तुमने पन्द्रह गिने, वे क्या लहरें थीं वा समुद्र ?

कान्तिलाल—लहरें। लेकिन समुद्ररूपसे तो सब एक ही हैं न ?

गुरुजी—ठीक, तो अब समुद्रके स्थानमें परमात्माको समझो, और तरङ्गोंकी जगह जीवको समझो। तरङ्गें एक दूसरेसे जुदी हैं तो भी समुद्ररूपसे सब एक हैं। इसी प्रकारसे जीव एक दूसरेसे जुदे हैं तथापि परमात्मारूपसे सब एक हैं। फिर तरङ्ग तो समुद्र ही है, तरङ्ग समुद्रसे जुदी नहीं, इसी प्रकार जीवात्मा भी परमात्मा है, जीवात्मा परमात्मासे जुदी नहीं।

इस दृष्टान्तसे जो बात पहले लड़कोंकी समझमें नहीं आयी थी,

वह सहजहीमें उनकी समझमें आ गई। जहां यह विषय कठिन लगा वहां रहने दो, कहकर गुरुजीने सबको दूसरी बातमें लगा दिया था और अब इस बातमेंसे ही छोड़े हुए विषयको समझा दिया। लड़के इस बातसे बहुत चकित हुए। शास्त्रमें दृष्टान्त किस लिये दिये जाते हैं, इसका भी उन्हें परिचय मिला, अर्थात् दृष्टान्तसे विषय तुरन्त समझमें आता है।

अब धीरे धीरे पानी उतरा। रेतीमें जहां पहले दिन खेलते खेलते लड़कोंने छोटे छोटे गड्ढे खोदे थे, उनमें पानी भर गया। सन्ध्या हुई, आकाशमें चन्द्रमा देख पड़ा। गुरुजीने बालकोंको खबोचियोंमें चन्द्रमाका प्रतिबिम्ब दिखलाया और कहा :—

बालको, इस चन्द्रमाके प्रतिबिम्बको देखो। इसी प्रकारसे जीवात्मा उस परमात्माका—हमारे शरीर और हृदयमें पड़नेवाला—प्रतिबिम्ब है, यह कितने ही शास्त्रकार कहते हैं।

———

[३४]

कर्म और पुनर्जन्म

धर्म-शिक्षणके वर्गके विद्यार्थी वनकी शोभा देखते देखते चले जाते हैं। रास्तेमें गुरुजीने कहा—"देखो, बालको, इस खेतमें अनाजका पाक कैसा अच्छा है !" सब लड़के गेहूंकी बालोंको देखने लगे और उनमें दूधभरे दानोंको देख बड़े प्रसन्न हुए। उनमें एक शङ्कर नामके बालकने कहा—"गुरुजी, हमने जो पहला खेत देखा था उसमें तो दाने सूख गये थे और कितनी ही बालें भी

पूरी न हो पाई थीं। इस खेतका मालिक भाग्यशाली प्रतीत होता है।"

पुरुषोत्तम—गुरुजी, शङ्करने जो कहा, क्या यह सच है? मेरा तो यह मत है कि यह उसकी मिहनत, बुद्धि और मनोयोगका ही फल है। उसने खेत अच्छी तरह जोता होगा, बीज भी अच्छा पसन्द कर बोया होगा, और इसके बाद पानी देनेमें भी बहुत श्रम किया होगा, इन कारणोंसे ही उसके गेहूं अच्छे हुए।

गुरुजी—पुरुषोत्तमका कथन सत्य है। जैसा करेंगे वैसा पावेंगे। जो जस बुवै सो तस फल चाखा। गेहूं बोनेसे गेहूं मिलते हैं; और गेहूंमें बीज, खाद और पानीके अनुसार ही पाक होता है।

शङ्कर—लेकिन गुरुजी, खेत ही खराब हो तो बिचारा किसान भी क्या करेगा?

गुरुजी—बहुत कर सकता है। तुमने अमेरिकाके किसानों-की बात सुनी होगी। हजारों मील जङ्गलमें बसकर, खराब जमीनको अपनी मिहनतसे सुधारकर, अच्छी खाद डालकर वे अपने खेतोंसे बहुत पैदावार कर सकते हैं। लेकिन इसके साथ मेरा कथन इतना तो सच है कि जमीनपर भी पैदावारका बहुत आधार रहता है। उस किसानके पास यदि अच्छी जमीन होती तो अच्छी पैदावार हो सकती थी। मैं इन दोनों किसानोंके सच्चे हालात जानता हूं। वे दोनों भाई हैं। उनके बापने तो उन्हें एकसी मिल्कियत दी थी, लेकिन उनमेंसे एकने तो बहुतसा धन उड़ा दिया, और बचे हुए थोड़े धनसे उस बुरे खेतको मोल ले लिया। दूसरे भाईने तो यह अच्छा खेत ही लिया, लेकिन अब भी वह पहला भाई चाहे तो अमेरिकाके किसानकी भांति बहुत कुछ कर सकता है।

इस प्रकार बातचीत करते करते सब अपने रोजके मिलनेकी जगह बड़े बरगदकी छायामें आ पहुंचे।

गुरुजी—आज हमें यहां बहुत नहीं बैठना है। मैंने रास्तेमें जो बातचीत तुमसे की थी उसमें ही मैंने तुम्हें आजका पाठ पढ़ा दिया। हिन्दूधर्मकी ब्राह्मण, बौद्ध, जैन तीनों शाखाओंके माने हुए एक बड़े सिद्धान्तके विषयमें वह पाठ था। वह सिद्धान्त कर्मका महानियम है—*जो जस बुवै सो तस फल चाखा—अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्।*

हमें इस जन्म और पूर्व-जन्मके किये हुए कर्मोंका फल तो अवश्य भोगना पड़ेगा। लोग साधारणतया कर्म शब्दका भाग्यके अर्थमें प्रयोग करते हैं। 'कर्ममें लिखा है'—'भाग्यकी रेखाएं मिट नहीं सकतीं' इत्यादि वाक्य हम अक्सर सुना करते हैं, किन्तु कर्म शब्दका अर्थ भाग्य नहीं, बल्कि किया हुआ काम है। भाग्यका सहारा लेकर आलसी और निरुद्यम होकर बैठ रहना हिन्दू धर्मकी दृष्टिसे अनुचित है, बल्कि कर्मका अभिप्राय ही यह है कि मनुष्य अपने शुभ अशुभ कर्मोंके लिये उत्तरदायी है, और 'जो जस बुवै सो तस फल चाखा' यह विचारकर उसे उद्योगी होना ही चाहिये। हमारा सुख दुःख हमारे इस जन्मके वा पूर्व जन्मके किये हुए कर्मोंपर निर्भर है, यही हमारे धर्मका अटल सिद्धान्त है। यह भी स्मरण रखना चाहिये कि भाग्य भी हमारे पूर्वके किये हुए कर्मोंसे ही बनता है। जैसे बोया हुआ बीज समय आनेपर ही उगकर फूलता-फलता है, उसी प्रकार कर्म और भाग्यको समझो।

अब एक और बातपर भी विचार करो। हमसे इस जीवनमें अनेक भूलें होती हैं, जिनका फल हमें भोगना पड़ता है। कितने ही अपने किये हुए कर्मोंका फल तो हम यहीं भोग लेते हैं, किन्तु हमें अपने सभी शुभ-अशुभ कर्मोंका बदला इस जीवनमें मिलनेसे रह जाता है। कभी कभी तो हमें पापी मनुष्य सुखी और धर्मात्मा दीन हीन देख पड़ते हैं, पर यदि इस जगत्का कोई न्याय-नियंता नियमानुसार चलानेवाला परमेश्वर है—और वह है ही यह हमारा अटल विश्वास है—तो जैसे दो और दो चार ही होते हैं और पांच नहीं होते, सूर्य पूर्वमें ही उदित होता है और पश्चिममें कदापि नहीं होता, वैसे ही अन्तमें—इस जन्ममें नहीं तो दूसरे जन्ममें—तो अवश्य अच्छे कामका फल अच्छा और खोटेका खोटा हुए बिना रह नहीं सकता।

इस प्रकार हमारे जीवनका भूत और भविष्य कालसे घनिष्ट सम्बन्ध है। यदि ऐसा न हो तो अबके किए हुए कर्म निष्फल होंगे और पहले कुछ किये बिना वर्तमान स्थितिमें उत्पन्न हुए हैं, यह न्यायी ईश्वरके राज्यमें कैसे सम्भव है? इस रीतिसे कर्मके सिद्धान्तके साथ पूर्व-जन्म और पर-जन्मका—अर्थात् जीवनकी अनादि और अनन्त रेखाका—हम जन्मसे जन्मे नहीं और मृत्युसे मरते नहीं, इस महासत्यका सिद्धान्त जुड़ा हुआ है। ये दोनों सिद्धान्त ईश्वरकी न्यायपरायणताके आधारपर रचे गये हैं।

स्वर्ग और नरक

लड़के अगले दिनके उपदेशपर घर जाकर विचार किया करते थे और उसमें जो बात पूछनेयोग्य होती थी उसे दूसरे दिन वे पूछा करते थे। लड़कोंकी विचारशक्ति बढ़ानेके लिये सामान्य रीतिसे इस शैलीका अनुसरण किया जाता था।

गुरुजी—किसीको कुछ पूछना है ?

विचारचन्द्र—महाराज, आपने यह कहा था कि इस जीवनमें समस्त कर्मोंके फल नहीं भोगे जाते, इसकारण उनके भोगनेके लिये पुनर्जन्म लेना पड़ता है। लेकिन पुनर्जन्मके बदले स्वर्ग-नरकके मान लेनेसे काम चल सकता है।

गुरुजी—हिन्दूधर्म स्वर्ग नरक तो मानता ही है, लेकिन उसके साथ पुनर्जन्म भी मानता है। इन दोनोंको माननेका कारण यह है कि हम जो भोग वर्तमान समयमें भोगते हैं वे कुछ एकदम बिना कारण नहीं आ पड़े, जगत्में जैसे हर एक वस्तुका कारण होता है वैसे ही इसका भी कारण होना चाहिये, और इसलिये पहले हमने किसी स्थलमें ऐसे कर्म किये होंगे कि जिनका परिणाम हमारा वर्तमान जीवन है, लेकिन स्वर्ग और नरक तो भोगभूमि है, कर्मभूमि नहीं, अर्थात् वहां तो कर्मके फल भोगे जाते हैं, कर्म किये नहीं जाते।

हरिलाल—गुरुजी, यह कैसे ?

गुरुजी—कारण यह कि हमारी व्याख्याके अनुसार स्वर्ग और नरक अच्छे और बुरे कर्मोंके फल भोगनेके स्थान हैं। वहां भी यदि दूसरे कर्म किये जायं तो वे पूर्वजन्म और परजन्मके कारण हो जायंगे। इसलिये हमारी हालकी जिन्दगीके सुख:दुखके कारणरूप जो कर्म होने चाहिये उनका स्थान स्वर्ग नरक नहीं, बल्कि पूर्वजन्म ही माना जाता है।

विचारचन्द्र—तो फिर स्वर्ग नरककी जरूरत ही क्या रही ?

गुरुजी—सुनो। हमारे जो भले-बुरे कर्म देख पड़ते हैं वे वास्तवमें ऐसे बड़े होते हैं, कि उनका बदला इस हमारी छोटीसी दुनियामें नहीं मिल सकता। कल्पना करो कि इस संसारमें एक दुष्ट पुरुष-द्वारा एक साधु पुरुषकी निष्ठुरतासे की हुई हत्याके सम्बन्धमें बहुतसे बहुत क्या दण्ड हो सकता है ? इस प्रकारके कामके लिये मृत्युका दण्ड भी पर्याप्त नहीं है।

विचारचन्द्र—किन्तु यदि यह मान लें कि आनेवाले जन्ममें वह साधु पुरुष उस दुष्टसे वैसा ही व्यवहार करे तो नरककी कल्पना करना तो व्यर्थ ही होगा।

गुरुजी—तो साधु और दुष्टके बीचमें बदलेके बाद निबटारा तो हो सकता है, किन्तु परमेश्वरके सामने तो अपराध बना ही रहता है न ? पर दयालु ईश्वर उस अपराधको सदा अपनी दृष्टिमें नहीं रखता, नरककी सजाका भोग कराकर वह उसे शुद्ध करता है। फिर यदि वह साधु क्षमाशील और उदार मनका हो और जैसा उसके साथ एक जन्ममें किया वैसा वह स्वयं प्रति दूसरे

जन्ममें* न करे तो भी इसके कारण किया हुआ पाप क्या मिट सकता है? वह तो जब उसकी सजा नरकमें भोग लेगा तभी मिट सकता है। इसलिये पुन-र्जन्मके साथ स्वर्ग-नरक मानना आवश्यक है।

भले-बुरे कर्मोंके अनुसार स्वर्ग-नरक भोगने ही पड़ते हैं, इस सम्बन्धमें हिन्दू-धर्मका विश्वास इतना दृढ़ है कि युधिष्ठिर ऐसे धर्मराजके अवतार माने हुए महापुरुषको भी इस नियमसे मुक्त नहीं माना गया।

प्रेमशङ्क—गुरुजी, स्वर्ग और नरक कहां होंगे?

गुरुजी—ये स्वर्ग और नरक हमारी भूमिके सदृश कोई और भूमि नहीं। ये तो जीवकी वर्तमानसे कुछ जुदी ही प्रकारकी अव-स्थायें हैं, जिन अवस्थाओंमें जीवको केवल सुख और दुःख ही भोगने होते हैं। इसलिये हिन्दूशास्त्रकार कितनी ही वार यह कहते हैं कि स्वर्ग और नरक ये सुख दुःखकी अवस्थायें हैं और वे हमारे भीतर ही हैं। जैसे हम स्वप्नमें देखी हुई दुनियाको न इस पृथ्वीके ऊपर अथवा उसके नीचे ही कह सकते हैं वैसे ही ये स्वर्ग और नरक ऊंच हैं वा नीचे, यह नहीं कह सकते। परन्तु हमारे मनका कुछ ऐसा स्वभाव है कि जो वस्तु अच्छी है उसे हम हमेशा ऊंचा मानते हैं, और जो चीज बुरी है उसे हम नीचा मानते हैं। इसलिये स्वर्ग ऊपर और नरक नीचे माना गया है।

सुशील—गुरुजी, स्वर्ग एक है वा अनेक?

गुरुजी—सुख एक है, अतएव सुखका धाम स्वर्ग भी एक ही

*इस पुस्तकमें 'हरिश्चन्द्रका यज्ञ' शीर्षक पाठ देखो।

है। लेकिन परमात्माके जुदे जुदे रूपके कारण जैसे देवता अनेक हैं वैसे ही इन देवताओंके धाम भी अनेक हैं। सृष्टिलीला सर्वत्र एक है, तथापि पहाड़पर हवाके झकोरोंका एक तरहका सुख, समुद्रके किनारे दूसरी तरहका सुख, बगीचेमें तीसरी तरहका सुख मिलता है। ये जुदे जुदे लोक अग्निलोक, वायुलोक, चन्द्रलोक इत्यादि कहे जाते हैं, और ये सब मिलकर स्वर्ग बन जाते हैं। तुम्हें याद होगा कि पूर्व-व्याख्यानोंमें हम शिव और विष्णुकी भक्तिके पन्थोंका निरूपण कर चुके हैं। इनके देवताओंके धाम क्रमसे कैलाश और वैकुण्ठ कहे जाते हैं। शिवजीके भक्त कैलाशवासकी मनोकामना रखते हैं, और वैष्णवजन विष्णुधाम वैकुण्ठके लिये तरसते हैं। ये धाम भगवद्भक्तोंकी दृष्टिमें स्वर्ग हैं।

---

[३६]

मुक्ति

रामनाथ—गुरुदेव! कल आपने स्वर्ग और नरकका वर्णन किया था, उसे सुनकर मेरे मनमें यह हुआ कि स्वर्गका सुख तो अनन्त अपार होगा। क्या यह मेरा विचार सत्य है?

गुरुजी—अनन्त सुखका धाम ही स्वर्ग है, और जिसमें अनन्त सुख है उस स्वर्गके सुखका पार भी नहीं। 'इसी अर्थमें 'स्वर्ग' शब्दका प्रयोग भी होता था, किन्तु धार्मिक जीवनके जैसे जैसे जुदे जुदे मार्ग बनते गये, वैसे वैसे जीवनके लक्ष्यरूप स्वर्गके भी स्वरूप जुदी-जुदी तरहके माने जाने लगे। जो लोग

अपना सारा जीवन यज्ञ, दान, व्रत, तप करनेमें व्यतीत करते हैं और ईश्वरके विषयमें विचार नहीं करते हैं, उन्हें एक प्रकारका परलोक मिलना चाहिये, और जो ईश्वरकी निष्काम भक्तिको वा उसके ज्ञानको अपने जीवनका परम लक्ष्य मानते हैं, उनकी गति जुदी रीतिकी होनी चाहिये। ये ही दो जीवनके मार्ग हैं और इनके अनुसार परलोकके भी दो मार्ग हैं जो क्रमसे *धूममार्ग* (धुएंका मार्ग) और *अर्चिमार्ग* (प्रकाशका मार्ग) कहे जाते हैं। सकाम शुभ कर्मोंमें वासनारूपी धुएंका सम्बन्ध है, इसकारण वह धूममार्ग कहलाता है, और ज्ञान तो प्रकाशरूप है, इसलिये उसका मार्ग अर्चिमार्ग कहलाता है। वह ज्ञान निष्काम कर्मोंसे अर्थात् आसक्तिरहित होकर कर्म करनेसे प्राप्त होता है। धूममार्गद्वारा स्वर्ग प्राप्त होता है, लेकिन स्वर्गके सुखका अन्त है; क्योंकि जितना पुण्य उतना ही स्वर्गका सुख होता है, और उस सुखके भोगनेके पश्चात् जीवको फिर पृथ्वीपर लौटकर आना पड़ता है। अतएव जो सकाम शुभ कर्म यज्ञ-यागादिक मात्र ही किया करते हैं, वे पृथ्वीसे स्वर्ग और स्वर्गसे पृथ्वीपर आया-जाया करते हैं। यहांपर यज्ञका अर्थ अनेक प्रकारके शुभ कर्मोंसे है, जैसा भगवान्ने कहा है—

> *द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे।*
> *स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः॥*
> *एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे।*
> *कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे॥*

श्रीमद्भगवद्गीता अ० ४ श्लोक २८।३२

अर्थः—कोई धनदानरूप यज्ञ करता है, कोई तपरूप यज्ञ करता

है, कोई योगरूप यज्ञ करता है, कोई कठोर व्रत कर बड़े परिश्रमसे वेदाध्ययनरूप अथवा ज्ञानार्जनरूप यज्ञ करता है।

ऐसे अनेक प्रकारके यज्ञ ब्रह्माने वेदमुखसे कहे हैं। इन सबका मूल कर्म है यह तुम जान लो, तब बन्धनसे मुक्त हो जाओगे। यह निरन्तर आवागमनकी स्थिति सुख दुःखसे मिश्रित है, किन्तु यह स्थिति चाहे अखण्ड सुखसे परिपूर्ण क्यों न हो तथापि विचारवान् पुरुषोंको यह आवागमन अच्छा नहीं लगता। उन्हें तो इस दुनिया वा स्वर्गकी अपेक्षा ईश्वरका समागम विशेष आनन्दप्रद होता है, और इस कारण वे पृथ्वी और स्वर्गकी फेरीसे, और जन्म-पुनर्जन्मके चक्रसे, जिसे 'संसार' अर्थात् जो चलता ही रहता है, कहते हैं, उसमेंसे छूटनेकी इच्छा करते हैं। इस संसारसे छूटना ही मुक्ति है। मुक्ति विविध प्रकारकी है—एक '*सालोक्य*' अर्थात् प्रभुके लोकमें, वैकुण्ठ वा कैलाशमें जाकर वसना, दूसरी '*सामीप्य*' अर्थात् प्रभुके समीप ही रहना, तीसरी *सारूप्य* अर्थात् ईश्वरके समरूप होना और चौथी '*सायुज्य*' अर्थात् ईश्वरसे मिल जाना, ये ही चार भेद हैं। कितने एक द्वैतवादियोंके सिद्धान्तसे यह चार प्रकारकी मुक्ति हैं। इनके अतिरिक्त अद्वैतवादियोंके मतानुसार एक *कैवल्य मुक्ति* है; उसमें आत्मा अपने केवल शुद्ध-रूपका अनुभव करती है। इस कैवल्य मुक्तिमें आत्माके यथार्थ स्वरूपका अनुभव मरणके पश्चात् तथा जीवित दशामें रहते हुए भी हो सकता है।

यद्यपि ईश्वर सर्वव्यापी और निराकार है, किन्तु अपनी अनन्त मायाको धारण करनेके कारण उसमें साकारकी कल्पना भी घटा सकती है। इसलिये उसके साकार स्वरूपकी कल्पना करते हुए

भक्तिमार्गी द्वैतवादियोंने चार प्रकारकी अलङ्काररूपमें मुक्तिकी कल्पना की है। मुक्तिकी अवस्था तो मुक्त जीवोंद्वारा अनुभवसे ही जानी जाती है, किन्तु यह बात निर्विवाद है कि मुक्तिमें अनन्त और नित्य सुख प्राप्त होता है।

---

[३७]

मुक्तिके साधन

गुरुजी—सब विद्याओंमें शिरोमणि अध्यात्म विद्या कही है। इसलिये यहांके महात्माओंका सदासे इस विद्या द्वारा मु... प्राप्त करनेका प्रधान लक्ष्य रहा है।

विचारचन्द्र—गुरुजी, कल आपने जो उत्तमसे उत्तम प्रकारकी मुक्ति बतलाई, वह कैसे मिल सकती है?

गुरुजी—वह गांठ छोड़नेपर मिलेगी।

विचारचन्द्र—लेकिन वह कैसे छूटेगी?

गुरुजी—गांठ पड़ी हो तो वह सुलझानेसे ही खुल सकती है।

विचारचन्द्र—तो, महाराज, इसका अर्थ यह है कि गांठ किस प्रकार पड़ी है, यह देखना चाहिये।

गुरुजी—बेशक। इसे देखनेसे मालूम होता है कि जो कर्म हम करते हैं उनसे हमारी वासनायें बनती हैं, और वासनासे पुनर्जन्म होता है और इस रीतिसे कर्म, वासना और पुनर्जन्म चलता ही रहता है।

विचारचन्द्र—तो महाराज, कर्म न करने चाहिये।

गुरुजी—करने ही चाहिये। करने चाहिये, यह कहनेकी जरूरत ही नहीं। कृष्ण भगवान गीतामें कहते हैं कि कोई भी मनुष्य एक क्षणभर भी कर्म किये बिना रहता नहीं।

विचारचन्द्र—तो महाराज, यह तो बड़ी कठिनाई आ पड़ी, यदि कर्म किये जायं तो वे हमें संसारमें डुबा रखते हैं, और न किये जायें तो यह सम्भव नहीं। तो फिर क्या करें?

गुरुजी—ऐसा कर्म करना कि जिससे वह कर्म कर्म ही न रहे। (लड़के इसे न समझकर घबड़ाये) घबड़ाओ मत। मैं अपने कहनेका अर्थ समझाता हूं। जैसे बिच्छूका डङ्क निकाल लेनेसे वह बिच्छू बिच्छू नहीं रहता, उसी प्रकार कर्मका जो भाग है, जिसके कारण यह वासना उत्पन्न करता है, उस भागको निकाल डालें तो काफी होगा।

विचारचन्द्र—वह कौनसा भाग है?

गुरुजी—सकाम-बुद्धि—स्वार्थ-बुद्धि—जिसके कारण अहंकार उत्पन्न होता है। संसारमें जो जो कर्म करने हों वे राग-द्वेषसे न करने चाहियें, किन्तु प्रभुकी आज्ञा है, इस भावना वा बुद्धिसे ही वे कर्म करना चाहिये, और इस रीतिसे निष्काम कर्म करनेपर वासना-का अङ्कुर नहीं जमता। पर यह बतलाओ कि ईश्वरकी आज्ञापर चलनेकी इच्छा कब होगी?

विचारचन्द्र—ईश्वरपर जब हमें पूर्ण श्रद्धा' होगी।

गुरुजी—तो इस बातसे यह समझो कि मेरे कहे हुए निष्काम (स्वार्थ-इच्छा बिना) शुभ और न्यायबुद्धिसे कर्म करनेके लिये भक्तिकी आवश्यकता है। अब यह बतलाओ कि भक्ति हमारे मनमें कहां उत्पन्न होती है?

विचारचन्द्र—जब हम यह जान जायँ कि ईश्वरमें ऐसे गुण हैं जिनसे भक्ति उत्पन्न होती है।

गुरुजी—ठीक। पर इसके लिये ज्ञानकी आवश्यकता है। इस प्रकार कर्म, भक्ति और ज्ञानका परमात्माके मार्गमें उपयोग किया जाता है, और वह योग कहा जाता है।

कर्मको परमात्माके मार्गमें लगाना ही "कर्मयोग" है, भक्तिको लगाना "भक्तियोग" और ज्ञानको लगाना "ज्ञानयोग" है। इस प्रकार इन उत्तम प्रकारके कर्म, भक्ति और ज्ञानको गीतामें ये तीन नाम दिये गये हैं। तीनों हमारे धार्मिक जीवनमें किस प्रकार उपयोगी होते हैं, इसे मैं कुछ विस्तारपूर्वक समझाता हूं।

(१) कर्म—यह प्रभुकी आज्ञाका पालन करना है। इससे प्रभु प्रसन्न होते हैं, और अन्तःकरण शुद्ध होता है। लेकिन कर्म केवल धार्मिक क्रियामात्र नहीं, जैसे यज्ञ, दान, तप, व्रत, वल्कि न्यायसंगत वर्णाश्रमके सभी धर्मोंका अनुष्ठान करना चाहिये।

(२) भक्ति—कर्मके साथ भक्ति चाहिये। कितनी ही दफे काम करते करते अर्थात् संसारका अनुभव करते करते ईश्वरका ज्ञान होता है और भक्ति उत्पन्न होती है, पर वह भक्ति हमेशा शुद्ध ही नहीं होती। कितनी ही बार हम ईश्वरको "हे प्रभु! हमारे दुःख दूर करो, हमारे बाल-बच्चोंको सुखी रखो, हमें धन-धान्यकी समृद्धि दो।" इत्यादि प्रार्थना करते हैं। पर सच तो यह है कि इस तरहकी भक्ति स्वार्थवृत्तिकी है, तथापि ईश्वरके नामकी और उसकी प्रार्थनाकी महिमा ऐसी है कि इसके द्वारा भी हम धीरे धीरे शुद्ध बन जाते हैं और सकाम भक्तिमेंसे निष्काम भक्तिमें आ जाते हैं।

(३) ज्ञान – जब हम निष्काम भक्तिमें आ जाते हैं तब हमें ईश्वरके सिवाय किसी वस्तुमें भी सुख प्रतीत नहीं होता, और इस-कारण ईश्वरके जाननेकी, उसके दर्शन करनेकी हमारी तीव्र इच्छा होती है। किन्तु इस इच्छाके उत्पन्न करनेके लिये हमें पहले इतनी सामग्री इकट्ठी कर रखनी चाहिये:—

एक तो **विवेक**, अर्थात यह संसार अनित्य है, ईश्वर नित्य है, यह देह अनित्य है, आत्मा नित्य है, इत्यादि ज्ञान चाहिये। दूसरा **वैराग्य**, अर्थात् इस लोकके तो क्या, स्वर्गके सुखकी मुझे इच्छा नहीं, ऐसी प्रबल मनोवृत्ति होनी चाहिये। तीसरी **शम**, (मन शांत रखना) **दम**, (इन्द्रियोंको वशमें रखना) इत्यादि मानसिक बल और शान्तिके गुण चाहिए। चौथा **मुमुक्षुत्व** अर्थात् इस संसारसे छूटनेकी इच्छा होनी चाहिये। इसमेंसे हर एक गुणकी परम आव-श्यकता है, तथापि **मुमुक्षुत्व** सबसे बड़ा गुण है, क्योंकि यदि यह होगा तो पूर्वोक्त सभीको खींच लायेगा।

---

[३८]

षट् दर्शन

ज्ञान प्राप्त करनेके लिये अधिकारी भेदसे उत्तरोत्तर सीढी।

आनन्द – गुरुजी, आपने कल कहा था कि कितने ही शास्त्र-कारोंका ऐसा मत है, और पहले जीवात्मा और परमात्माके संबंधमें बोलते हुए भी आपने इसी प्रकार अमुक मत कितने ही लोगोंका

है, यह कहा था। तो महाराज, हमारे शास्त्रोंमें सबका कथन क ही न होगा ?

गुरुजी—पुस्तक पढ़नेकी सामर्थ्य प्राप्त करनेके पहिले जैसे वर्णमालाका ज्ञान प्राप्त कर लेना जरूरी है, इसी प्रकार भिन्न भिन्न, रीतिसे मनुष्योंको समझानेके लिये हमारे शास्त्रकारोंने षट्दर्शनोंकी रचना की है। जहांतक हो सका, हिन्दूधर्मके इन तत्वोंके समझानेमें जो तत्व सबको मान्य थे अथवा होने ही चाहिये,उन्हें ही मैंने लिया है। लेकिन सभी शास्त्रकारोंका सभी विषयों पर एकसा ही मत और कथन कैसे हो सकता है ? हर एकके मस्तकमें जुदी जुदी मति होती है। ऐसी भिन्न भिन्न मतिके कुछ दृष्टान्त मैं तुम्हें दूंगा, जिनसे तुम यह भलीभांति समझ जाओगे कि जीव, ईश्वर और जगत्के विषयमें ज्ञान उपार्जन करनेमें हमारे पूर्वजोंने कैसा परिश्रम किया था।

वेदमें जो कहा है, उसे अनुभव करनेके लिए जुदे जुदे शास्त्रकारोंने दर्शन (अर्थात् देखनेके साधन) रचे जो षट्दर्शन कहलाते हैं। हर एक दर्शनका इतिहास इतना लम्बा-चौड़ा है कि उनके सिद्धान्तोंमें फेरफार होना स्वाभाविक है, और ऐसा हुआ भी है। तो भी साधारण रीतिसे आजकल अमुक सिद्धान्त दर्शनका है, यह माना जाता है। इसके अनुसार मैं तुम्हें उनके सिद्धान्त बतलाता हूं:—

(१) प्रथम *सांख्य-दर्शन*। इसके पहले आचार्य कपिलमुनि कहलाते हैं। इस दर्शनका सिद्धान्त यह है कि संसार जन्म-मरण, जरा-व्याधि आदि ताप (दुःख) से भरपूर है, और ऐसा होनेका कारण यह है कि उसमें प्रकृति और पुरुष, जड़ और चैतन्य, ये दो

तत्व परस्पर मिल गये हैं। पुरुष (जीव) प्रकृतिसे भिन्न है, तथापि अपने आपको प्रकृतिके साथ बांध लेनेसे वह अपने दुःखोंका स्वय जन्मदाता बन गया है। यह प्रकृति सत्व, रज और तम, इन तीन गुणोंकी बनी हुई है, और वे क्रमसे सुख, दुःख और मोह (जड़ता) उत्पन्न करते हैं। इन गुणोंसे छूटना ही मोक्ष (निर्वाण) है। पुरुष प्रकृतिसे जुदा है, यह जान लेनेसे छूटना सम्भव है। बस, यही प्रकृति पुरुषके मिलनेसे ही जगत्‌रूप बना है, जैसे दूधमेंसे दही बन जाता है। अतएव ईश्वरके माननेकी कोई आवश्यकता नहीं, यह कर्म और ज्ञानप्रधान दर्शन है। गौतम बुद्ध भी इसीके अनुयायी थे।

(२) *योगदर्शन*। इसे पातञ्जलि मुनिने रचा है। सांख्य-दर्शनमें ईश्वर नहीं माना गया, वह इसमें माना गया है। सभी बातोंमें यह सांख्यके सिद्धान्तोंको स्वीकार करता है, किन्तु प्रकृतिसे पुरुष कैसे छूट सकता है, इसकी रीति जो सांख्यमें नहीं बतलायी गयी, उसे यह दर्शन बतलाता है। इस दर्शनमें कितने ही उत्तम नैतिक गुण, प्राणायाम, ध्यान, समाधि इत्यादि साधन भलीभांति बतलाये गये हैं। सांख्यके साथ योगदर्शनका मतभेद केवल ईश्वरके विषयमें है। अतएव एक निरीश्वर सांख्य और दूसरा सेश्वर सांख्य भी कहा जाता है। इस दर्शनके ईश्वरमें एक बात ध्यानमें रखनी चाहिये कि ईश्वर इस जगत्‌से तथा सभी जीवोंसे सर्वथा भिन्न है, वह परम विशुद्ध पुरुष है, इतनेहीसे वह ईश्वर कहा जाता है। उसके अनन्य ध्यानसे मोक्ष मिलता है। किन्तु चित्तकी वृत्तियोंको रोके बिना निर्विकल्प समाधि नहीं हो सकती। "योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः" अर्थात् चित्तकी वृत्तियोंको रोकनेके लिये ही इस दर्शनमें सुगम

उपाय बताये गये हैं। प्राचीन समयमें योगसिद्धि होनेपर महात्मा लोग श्वास रोककर सहस्रों वर्षोंतक इच्छा होनेपर एकासनपर बैठे रहते थे। इच्छानुसार प्राणत्याग करते थे। ऐसे अनेक दृष्टान्त हमारे शास्त्रोंमें मिलते हैं। अब भी कई कई स्थानोंमें योगी पाये जाते हैं जिनमें अनेक प्रकारकी अद्भुत सामर्थ्य दिखाई पड़ती है। इस प्रकारकी सिद्धियां परमार्थकी दृष्टिसे गौण मानी गयी हैं। योगका मुख्य लक्ष्य तो मोक्षप्राप्ति ही है।

(३) वैशेषिक दर्शन—इसे महर्षि कणादने रचा है। इस दर्शनके अनुसार द्रव्य, गुण, कर्म आदि ६ पदार्थ हैं। उदाहरण—यह वृक्ष, उसका नीला रंग, उसके हिलने-जुलनेकी क्रिया आदि। इनमेंसे प्रथम द्रव्य नौ प्रकारका है—पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन। इस जगत्को परमेश्वरने रचा है। जैसे एक चतुर कारीगर ईंट, पत्थर आदि चतुराईसे लगाकर सुन्दर महल बना डालता है, वैसे ही पृथ्वी, जल, तेज, वायुके परमाणु कणमेंसे ईश्वर इस जगत्की रचना करता है। पर जैसे निर्माणकर्त्ता उन ईंट और महल दोनोंसे जुदा है, वैसे ही जगत्का कर्त्ता ईश्वर भी इन परमाणुओंसे तथा जगत्से जुदा है, अर्थात् इस जगत्को उसने अपनेमेंसे ही नहीं निकाला किन्तु बाहरके रहकर बाहरके पदार्थोंसे इसे रचा है। दूसरी बात यह है कि जीव और ईश्वर दोनों आत्मा हैं, लेकिन दोनों एक नहीं। ईश्वर जीवोंसे जुदा है और जीवोंके कर्मानुसार उन्हें सुख दुखःरूप फल देता है। इस दर्शनका खास उद्देश्य द्रव्योंके धर्म ('विशेष'-खास गुण जिनके आधारपर वैशेषिक नाम पड़ा है) निश्चित करना है। इस

प्रकार विशेष धर्मका निश्चय कर आत्मा इन जड़ द्रव्योंसे जुदा है, यह इस शास्त्रने सिद्ध कर वताया है। सांख्यने प्रकृति और पुरुषको वतलाया, दोनोंकी भिन्नता किस रीतिसे अनुभव करना उस रीतिका निरूपण योग-शास्त्रने किया, किन्तु जड़ और चैतन्य जुदे ही हैं, इसका विशेष निर्णय इस वैशेषिक दर्शनने किया।

(४) *न्याय*—इसे गौतम ऋषिने वनाया। इसमें सत्यके जाननेके साधन—जिन्हें प्रमाण कहते हैं—निश्चित किये गये हैं। किस रीतिसे किया हुआ अनुमान ठीक हो सकता है, और उसमें कैसी भूलें किस रीतिसे पकड़ी जाती हैं, इत्यादि वातोंकी विवेचना न्यायशास्त्रमें है। वैशेषिक दर्शनमें आत्मा और अनात्माके धर्म जो पृथक कर वतलाए गये हैं, उन्हें इस दर्शनने स्वीकार किया है, और उनके लिए कैसे अनुमान आदि प्रमाण हैं उनका भी निरूपण किया है। इसलिए जैसे सांख्य और योग एक जोड़के हैं, वैसे ही वैशेषिक और न्यायका दूसरा जोड़ा है। न्यायशास्त्रमें प्रत्येक वात तर्कोंसहित प्रमाणोंसे सिद्ध की गई है। इससे तुम जान सकते हो कि हमारे धर्मशास्त्रोंने अन्धश्रद्धाको स्थान नहीं दिया है।

(५) *मीमांसा*—इसके रचयिता जैमिनी हैं। इसमें वेदके यज्ञ भागके वाक्योंका—और उनके आधारपर वाक्यमात्रका—अर्थ करनेकी रीति वतलायी गई है।

वेदान्त—इसके रचयिता वादरायण व्यास मुनि थे। वेदका अन्त वा सिद्धान्त उपनिषदोंमें आता है, उनके उपदेशोंपर इस दर्शनमें विचार किया गया है, इस कारण यह वेदान्त कहा जाता है। उपनिषदोंमें ब्रह्म वा परमात्माके विषयमें विचार है। उसके सम्बन्धमें

ही यह दर्शन है, अतएव यह ब्रह्ममीमांसाके नामसे भी ख्यात है। पहले कर्म और फिर ज्ञान, पहले कर्मका विचार और फिर ब्रह्मका विचार होना चाहिये, इस कारण, जैमिनीकी मीमांसा पूर्वमीमांसा और वेदान्त उत्तर-मीमांसाके नामसे पुकारी जाती है, अतएव ये दोनों मीमांसीय षड् दर्शनोंमें एक जोड़ेकी हैं, किन्तु यदि इन दोनों दर्शनके सिद्धान्तोंका आपसमें मिलान करें तो इनमें बहुत मतभेद मालूम होता है। एक ईश्वर-भक्तिकी आवश्यकता नहीं मानता, दूसरा सब कुछ ईश्वररूप ही मानता है, एक कर्मको ही मोक्ष-साधन मानता है, दूसरा ज्ञानको मानता है और कर्मको ज्ञानके साथ रखता है और केवल कर्मपर ही निर्भर रहनेको अथवा उसे ज्ञानका विरोधी मानता है। इस दर्शनमें मुख्यतया परमात्मा और जीवात्मा, उनका परस्पर सम्बन्ध, परमात्माको प्राप्त करनेके साधन, मोक्षकी स्थिति, इत्यादि अनेक महत्वके विषयोंपर विचार किया गया है। इनके सिद्धान्तोंपर हिन्दू धर्म अवलम्बित है, और इस कारण हमारे शिक्षणमें वेदान्तके सिद्धान्तोंका अधिकांशमें उपयोग किया गया है।

सब दर्शनोंमें वेदान्त दर्शनका ऐसा महत्व है कि अनेक आचार्योंने इसपर "भाष्य" कहलानेवाली, गम्भीर अर्थसे भरपूर, टीकायें लिखी हैं। ऐसे भाष्यकारोंमें मुख्य तीन हैं, शङ्कराचार्य, रामानुजाचार्य, और वल्लभाचार्य। इनके सिद्धान्त मैं तुम्हें संक्षेपसे कह जाता हूं।

शंकराचार्यके सिद्धान्तके अनुसार—

(१) कर्म और भक्तिसे चित्त शुद्ध होता है, किन्तु इस संसार-मेंसे मुक्ति पानेका साधन तो ज्ञान ही है।

(२) "ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है, जीव तो वास्तवमें ब्रह्म ही है"—इस प्रकारका अनुभव ही ज्ञान है ।

(३) इस ज्ञानके प्राप्त करनेके लिये संन्यास आवश्यक है । जिस घड़ी सच्चा वैराग्य हो, तभी यह संन्यास लिया जा सकता है, गृहस्थाश्रम करना भी अनावश्यक नहीं ।

रामानुजाचार्यके सिद्धान्तके अनुसार—

(१) परमात्मा निर्गुण नहीं, किन्तु समस्त शुभ गुणोंसे भरपूर है । सृष्टिके जड़ चेतन पदार्थ और चेतन जीव उसके शरीरके अंग हैं । यह शरीर ही परमात्माका विशेषण, और परमात्मा इस शरीररूपी विशेषणसे विशिष्ट है, इस शरीरविशिष्ट परमात्माके सिवाय और कोई वस्तु नहीं । इस कारण इस सिद्धान्तका नाम 'विशिष्टाद्वैत' है ।

(२) कर्म और आत्म-ज्ञान, ये दोनों मिलकर भक्ति उत्पन्न करते हैं, और भक्ति ही परमात्मातक पहुंचनेका साधन है, भक्ति ही ज्ञान है, किन्तु इसके साथ कर्म हमेशा करते रहना चाहिये, जैसी कि एक महात्माकी सन्तवाणी है :—हाथ काम मुख राम हृदय साची प्रीति, क्या योगी क्या गृहस्थी उत्तम यही रीति ।

वल्लभाचार्यके सिद्धान्तके अनुसार—

(१) जैसे अग्निमेंसे चिनगारियां निकलती हैं अथवा जैसे मकड़ियां अपनेहीमेंसे जाला निकालती हैं वैसे ही ब्रह्ममेंसे यह जड़ सृष्टि और जीव निकले हैं । ये जीव और जड़ सृष्टि शुद्ध ब्रह्म ही हैं, और शुद्ध ब्रह्मके सिवाय और कुछ वस्तु नहीं, इसलिये यह सिद्धान्त 'शुद्धाद्वैत' कहलाता है ।

(२) ज्ञान और वैराग्य ही भक्तिके साधन हैं,परमात्माके पानेके लिये अन्तमें भक्ति ही चाहिये। भक्ति विविध प्रकारकी है। इसमें प्रेमलक्षणा भक्ति उत्तम है। शास्त्रके नियम पालनकर ईश्वरका भजन करना 'मर्यादामार्ग' है, और प्रभुके ही आश्रित रहना और उसे अपने आपको सौंप देना—जिससे वह हमारी भक्तिकी पुष्टि करता रहे—यह 'पुष्टि-मार्ग' है।

इस प्रकारके हमारे शास्त्रकार और आचार्यों के विविध मत हैं। इन विविध मतोंसे हमें घबड़ाना न चाहिये। सभी हमें कुछ न कुछ सिखाते हैं और इन मतोंमेंसे ही हमें यह दृढ़ विश्वास होता है कि—निम्न उपायोंसे उसी एक परमात्माके ज्ञानको समझानेके लिये भिन्न भिन्न मार्ग बताये गये हैं।

रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषाम्।
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव॥

जुदी जुदी रुचिके कारण मनुष्य सीधे, टेढ़े आदि जुदे-जुदे मार्गका अवलम्बन करते हैं—किन्तु उन सबके पहुंचनेका स्थान—हे प्रभु! तुही है, जैसे जलके लिये समुद्र तद्वत्।

इन षड् दर्शनोंने जिस प्रकार अनेक सूक्ष्म तर्कोंद्वारा आध्यात्मिक ज्ञान समझानेका प्रयत्न किया है, उसी प्रकार पीछेसे बने हुए तन्त्र-ग्रन्थोंने लोगोंको सकाम अथवा निष्काम बुद्धिकी भिन्न भिन्न रुचिके अनुसार अनेक प्रकारकी "प्रतीकोपासना" की विधि बतायी है। इस प्रतीकोपासनामें जप और ध्यानका भी समावेश किया गया है। तन्त्रोंकी शिक्षा बता रही है कि इस प्रकारकी प्रतीकोपासनासे मनुष्यका अन्तःकरण शुद्ध होकर वह अन्तमें ईश्वरके निराकार

स्वरूपमें ध्यान लगानेके योग्य बन जाता है। इस प्रतीकोपासनाका नाम ही मूर्त्तिपूजा है।

यद्यपि तन्त्रोंका मुख्य प्रयोजन स्थूलरूपसे मूर्त्तिपुजा अथवा मन्त्रोंके जपद्वारा ईश्वरकी भक्तिमें मन लगवाना है, परन्तु पिछले समयमें पाखण्डी और स्वार्थी मनुष्योंने तन्त्रोंमें बहुतसे ऐसे प्रकरण भी घुसा दिये जो ज्ञान और भक्तिसे सर्वथा विपरीत हैं।

इस समय ऐसे बहुतसे पाखण्डो और धूर्त पुजारी और महन्त भी हैं जो अपने पापाचरण और स्वार्थपरायणताके कारण मन्दिरोंपर अनेक लाञ्छन लगवा रहे हैं। हम सबको चाहिये कि धर्मकी रक्षामें ही सदा तत्पर रहें। मनु महाराज लिखते हैं कि:—

"धर्मो रक्षति रक्षितः"

---

[३९]
जैन तीर्थंकर

चन्द्रशेखर—गुरुजी, आपने कल मनुष्योंके स्वाभाविक मतभेदके कितने ही दृष्टान्त दिये। वे सब आचार्य भिन्न भिन्न समयमें हुए। वे इकट्ठे बैठकर किस रीतिसे निर्णय कर सकते थे? लेकिन मेरे मनमें यह बात आती है कि यदि ऐसा हो सकता तो बहुत ही अच्छा होता। सबके लिये एक ही मार्गका निर्णय होता और आजकल जो झगड़े होते हैं; वे न होते।

गुरुजी—तुम्हारा कथन ठीक है। जैसे बने वैसे हमें एक दूसरेकी समानता देख एकता बढ़ानी चाहिये; इसमें ही भलाई है, किन्तु

सबके लिये एक ही मार्ग होना अच्छा है, यह मानना उचित नहीं। अज्ञानका किला ऐसा विशाल और दुर्भेद्य है कि उसपर तो हजारों बहादुर सिपाही चारों ओरसे, जुदी जुदी दिशाओंसे, हमला करें, तभी वह जीता जा सकता है। सिपाहियोंकी एक सीधी अखण्ड पंक्ति एक किलेके हमलेमें कृतकार्य नहीं हो सकती। दूसरा उदाहरण लीजिये। यदि सरकार यह हुकुम दे कि इस नर्मदा नदीके सैकड़ों मील लम्बे किनारेपर रहनेवाले सभी ग्रामवाले एक ही ठिकानेसे नदी पार उतरें, तब तुम उस हुकुमकी बाबत क्या कहोगे? इसी प्रकार यह समझना चाहिये कि इस संसाररुपी अज्ञानकी नदीके पार करनेके लिये ही महापुरुषोंने अनेक घाट बनाये हैं, अनेक छोटी बड़ी नावें चला करती हैं—इनका हम अपनी अनुकूलता और आवश्यकताके अनुसार लाभ उठावें, इसमें ही भला है। एक बात स्मरण रखना कि सबको सामनेके किनारेपर ही जाना है, कहांसे जाना और किस रीतिसे जाना, इसे हमें अपने स्थान और स्थिति आदि देखकर निश्चित करना चाहिये। आज मैं ऐसे ही एक बड़े घाट बनानेवाले और नदी पार करनेके छोटे बड़े अनेक साधनोंके आविष्कार करनेवालेके विषयमें तुम्हारे समक्ष वार्तालाप करूंगा। पहली दी हुई उपमाके अनुसार, आज मैं अज्ञानके किलेपर घोर आक्रमण करनेवाले एक महान् सेनापति और उसके शस्त्रके बारेमें कुछ बातचीत करना चाहता हूं। बालको! यह कहो कि तुम्हें हिन्दूधर्मकी व्याख्या तो याद है न?

चन्द्रशेखर—हां महाराज, सिन्धु, गंगा, यमुनाके प्रदेशोंमें जो धर्म उत्पन्न होकर वहांसे फैला, वही हिन्दूधर्म है।

गुरुजी—ठीक। मुझे आशा है कि तुम्हें यह भी स्मरण होगा कि इस भूमिमें जैसे इन्द्र, वरुण आदि देवताओंकी स्तुति और उनके निमित्त यज्ञ होते थे, वैसे ही इन सब देवताओंमें विराजमान परमात्मा कैसा है और वह किस रीतिसे मिल सकता है, इसके विचार करनेमें बहुत स्त्री पुरुष संलग्न थे। इनमें कितने ही जनक राजा जैसे राजकाज करते थे और कितने ही शुकदेवजी जैसे परमहंस-संन्यासी होकर रहते थे। इस पिछली तरहके दो अवतार-सदृश महापुरुष (महावीर स्वामी और गौतम बुद्ध) ऐतिहासिक कालमें वि० सं० पूर्व ५०० वर्ष ऊपर गंगाके प्रदेशमें हुए थे। उनमें पहले महावीर स्वामी थे। उनका उपदेश किया हुआ धर्म "जैन-धर्म" कहलाता है। जैन शब्द 'जिन' शब्दसे ही बना है (जिन अर्थात् जीतनेवाला, इस संसार-रूपी मोहके गढ़का जीतनेवाल)। उन्होंने इस संसाररूपी नदीके पार करनेका पुल बनाया था तथा उसे तैरनेके लिये शास्त्ररूपी छोटे-मोटे साधन रचे, इस कारण वे तीर्थंकर भी कहाते हैं।

---

[४०]

ऋषभदेव और महावीर स्वामी

जैन-धर्ममें २४ तीर्थंकर हुए कहलाते हैं, उनमें पहले ऋषभदेवजी और पिछले महावीर स्वामी हुए। ऋषभदेवजी अत्यन्त प्राचीन कालमें हुए थे, और ब्राह्मण लोग भी उन्हें विष्णुके २४ अवतारोंमेंसे एक मानते हैं, और उनके वैराग्य, तप और परमहंस-

वृत्तिकी बड़ी प्रशंसा करते हैं। जैनशास्त्रोंमें कहा है कि उनके समयमें लोग लिखना-पढ़ना न जानते थे, इतना ही नहीं, बल्कि भोजन बनाना आदि सभ्य मनुष्योंके साधारण कर्म भी वे न जानते थे। ऋषभदेवजीने गद्दीपर आकर उन्हें ये सब बातें सिखाईं और लेखन, गणित, पाकशास्त्र आदि अनेक विद्यायें और कलायें उन्हें बतलाईं। वृद्ध होनेपर अपने लड़कोंको राज्य बांटकर वे तप करने निकले और आत्माका स्वरूप पहिचानकर 'केवली' हुए; अर्थात् परमज्ञानकी दशामें पहुंचे।

महावीर स्वामी भी इसी भांति क्षत्रिय राजकुमार थे। बालकपनसे ही उनकी वृत्ति वैराग्यकी ओर थी, परन्तु इसके साथ ही वह वृत्ति इतनी कोमल थी कि अपने प्यारे माता-पिताको छोड़ उनका मन दुखाकर एकदम साधु हो जाना उन्हें पसंद न पड़ा। इसलिये उन्होंने गृहस्थाश्रममें प्रवेश किया, लेकिन माता-पिताके मरनेपर अपने बड़े भाईकी आज्ञा लेकर ३० बरसकी उमरमें वे साधु हुए। वे साधु होकर विचरने लगे। उस समयके उनके परिग्रह (साथ ली हुई वस्तु) के विषयमें दो मत हैं। कुछ लोग यह मानते हैं कि वे पहिलेहीसे दिगम्बर रहे थे और पाणिपात्र थे, अर्थात् हाथमें ही भिक्षा लेते थे। दूसरे लोग यह कहते हैं कि उन्होंने पहिली भिक्षा तो पात्रमें ही ली थी, और इसलिये साधुओंको ऐसा करना ही उचित है; फिर दीक्षा लेनेके समय इन्द्रके दिये हुए वस्त्र भी कुछ समय तक उन्होंने रखे थे इसलिये साधुओंको भी आवश्यक वस्त्र रखना उचित ही है। वह वस्त्र उनके शरीरसे किस प्रकार उतरा, इस सम्बन्धमें यह कहा जाता है कि उन्हें एक दरिद्र ब्राह्मण रास्तेमें

मिला, जिसे आधा वस्त्र फाड़कर उन्होंने दे दिया। फिर वह ब्राह्मण दरजीके पास उस कपड़ेको कोर लगवाने गया। वहां दरजीने उससे कहा कि कपड़ा बहुत कीमती है, और इसका दूसरा आधा हिस्सा ले आओ तो मैं दोनोंको मिलाकर एक उत्तम वस्त्र बना दूंगा। ब्राह्मण फिर महावीर स्वामीके पास गया, लेकिन अब दूसरा कैसे मांगूं, इस तरह मन-ही-मन सङ्कोच करता हुआ वह स्वामीजीके पीछे हो लिया। इतनेमें यह शेष आधा वस्त्र कांटोंमें उलझ गया। स्वामीजीने उसे कांटोंसे न निकाला। फिर ब्राह्मणने उसे ले लिया। उस समयसे महावीर स्वामी बिलकुल दिगम्बर रहे। इन दो बातोंमेंसे सत्य जो कुछ भी हो, लेकिन इतना निर्विवाद है कि महावीर स्वामीका वैराग्य बहुत तीव्र था। दीक्षा लेनेके बाद १२ बरस उन्होंने तपमें बिताकर उत्तम ज्ञान प्राप्त किया, और तत्पश्चात् ३० वर्ष धर्मोपदेश कर निर्वाण पाया। अपने संन्यासकी दशामें वे जिस भागमें मुख्यतया फिरा करते थे, वह अब भी उनके विहार करनेके कारण 'विहार' नामसे कहा जाता है।

—०—

[४१]

जैन-धर्मका मुख्य उपदेश

धर्मचन्द्र—गुरुजी जैन-धर्ममें ऐसे कौनसे तत्त्व हैं जिनके बारेमें उनके सभी शास्त्रोंका एक मत है?

गुरुजी—

(१) अहिंसा—'अहिंसा परमो धर्मः'—अहिंसा यह बड़ासे बड़ा

धर्म है, यही जैन-धर्मका बड़े से बड़ा सिद्धान्त है। इस धर्मके समान आदेश और सारे आचार-विचार अहिंसाके आधारपर स्थित हैं। जैन-धर्ममें न सिर्फ यज्ञादिकमें वा सामान्य खान-पानमें हिंसाका निषेध किया गया है, वल्कि मनुष्यकी सभी क्रियाओंकी बारीकीसे खोजकर इनमें कहाँ कहाँ हिंसाका प्रसङ्ग आता है, यह भलीभांति दिखलाया गया है। हिंसाके कारण मनुष्यकी क्रियाओंमें बाधा पड़नेपर यदि और कुछ न वन पड़े, तो हिंसा जहाँतक कम हो सके, होनी चाहिये, इस सम्बन्धमें जैन-धर्ममें मार्ग खोज निकाले गये हैं, अर्थात् जिन प्रसङ्गोंमें हिंसा अपरिहार्य हो, उनमें भी वह न्यूनातिन्यून किस प्रकार हो सकती है, इत्यादि बातोंका विवेचन किया गया है। जैन-धर्ममें 'षट् जीवकाय' (१) पृथ्वी, (२) जल, (३) तेज, (४) वायु, (५) वनस्पति और (६) त्रस (जङ्गम प्राणी जो त्रास, भय देखकर एक स्थलसे दूसरे स्थलमें जा सकता है), इस प्रकार छः तरहके जीव माने गये हैं और उनकी रक्षाके लिये उपदेश किया गया है।

जैन-धर्मका दूसरा बड़ा आग्रह तपके लिये है। उपवासादिकसे शरीर और इन्द्रियोंका दमन करना वे आवश्यक समझते हैं। वे मनकी वृत्तियोंका जय निष्फल नहीं मानते और न उसे कुछ कम महत्व देते हैं, तथापि देहका और मनका ऐसा गाढ़ा सम्बन्ध है कि देहके और इन्द्रियोंके दमन बिना मनका जीतना असम्भव है, यह उनका मत है। इस कारण जैन-धर्ममें उपवास करना बहुत ही आवश्यक है। साधु होनेके पहले जो केशलुञ्चनकी विधि है, वह भी इसकी परीक्षाके ही लिये है।

(३) वैराग्यपर जैन लोग बहुत जोर देते हैं। उनकी दृष्टिमें मनुष्यका परमपुरुषार्थ इस संसारकी समृद्धि नहीं, किन्तु कैवल्य स्थिति वा निर्वाण अथवा शान्ति है।

(४) जैन जगत्को अनादि मानते हैं और यह भी कहते हैं कि कर्मके महानियमसे सब कुछ चलता है। मनुष्य किये कर्मके भोग भोगे बिना छूट नहीं सकता, और जैसा करूंगा, वैसा पाऊंगा, इस सिद्धान्तपर जो हिन्दू धर्मकी ब्राह्मण शाखाका भी है, जैनोंका दृढ़ विश्वास है, और इसे वे बड़ी खूबीसे समझाते हैं।

(५) ये जगत्के कर्त्ता ईश्वरको नहीं मानते, लेकिन ऋषभदेव आदि रागादि दोषरहित और लोकके उद्धारक जो तीर्थंकर हो गये हैं, उनकी ये भगवानकी तरह पूजा करते हैं। संसारमें भक्तिके नामपर अज्ञान और अन्धविश्वास फैल जाते हैं, तब कर्मप्रधान उपदेशोंकी आवश्यकता होती है।

आज मैं यही कहनेवाला था।

इसके सिवाय जैन-धर्मके तत्त्वज्ञानमें 'स्याद्वाद' नामका एक बड़ा सिद्धान्त है। इसका तात्पर्य यह है कि कोई भी वस्तु इस प्रकार की है वा उस प्रकार की है, इस तरह उसका एक ही रूपसे निरूपण नहीं किया जा सकता। एक वस्तु एक रूपमें हो, दूसरे रूपमें न हो, एक स्थलमें हो और दूसरे स्थलमें न हो, एक कालमें हो और दूसरे कालमें न हो इत्यादि। इस प्रकार एक ही वस्तु जुदी-जुदी रीतिसे देखते हुए जुदी-जुदी तरहकी मालूम होती है। यह बात ध्यानमें रखनेसे आपसके मतभेदके झगड़ोंका नाश हो जाना सम्भव है। यह जैनधर्मकी महत्त्वपूर्ण गवेषणाका फल है।

—०—

जैनव्रत, सामायिक, प्रतिक्रमण

गुरुजी—बालको ! अमुक मनुष्यका जीवन धार्मिक है वा नहीं, इसकी खरी कसौटी उसका चरित्र—उसकी नीति है। वह चरित्र ज्ञानसे बनता है, वह ज्ञान शास्त्रोंके देखनेसे मिलता है। तदनुसार जैन-धर्ममें, "दर्शन" "ज्ञान" और "चरित्र" ये तीन रत्न माने गये हैं।

अब सुन्दर चरित्र-गठनके लिये पांच व्रत अर्थात् नियमोंका पालन करना चाहिये। ये निम्न प्रकारके हैं:—

(१) अहिंसाव्रत—हिंसा न करना, अर्थात् 'प्राणातिपात'—हिंसाका दोष—न हो, यह देखना चाहिये। छोटे-बड़े स्थावर-जङ्गम किसी भी जीवकी मन-वचन-कायसे कभी हिंसा न करना, न कराना, कोई मारता हो तो उसका अनुमोदन भी न करना।

(२) सत्यव्रत—असत्य न बोलना। मन, वचन, कायसे, क्रोधसे, लोभसे, भयसे, हँसीमें भी कभी झूठ न बोलना, न बुलवाना और न उसका अनुमोदन ही करना।

(३) अस्तेयव्रत—चोरी न करना, बिना दी हुई वस्तु न लेना। मन वचनसे छोटी बड़ी कोई भी वस्तु बिना दी हुई न लेना, न किसीको लेने देना और न लेनेका अनुमोदन करना।

(४) ब्रह्मचर्यव्रत—मन वचन कायसे, किसी तरह भी ब्रह्मचर्य न तोड़ना, न तुड़वाना, न तोड़नेका अनुमोदन करना।

(५) अपरिग्रह—परिग्रह न करना—अर्थात् अपने आसपास वस्तुएं न रखना, न रखवाना, न रखनेका अनुमोदन करना। गृहस्थको जहांतक हो सके, कम वस्तुएं रखनी चाहिये और उन्हें धीरे धीरे घटाकर अन्तमें साधु होकर छोड़ देना चाहिये।

अब बालको, यह बतलाओ कि ये अहिंसा सत्य आदिके नियम तुमने किसी दूसरे स्थलमें पढ़े हैं ?

गोविन्द—हां महाराज, उस दिन इन दीवारोंपर सामान्य धर्मके लेख लटकाये गये थे, उनमें मैंने कुछ ऐसा ही पढ़ा था।

गुरुजी—तुम्हें ठीक याद है। ये व्रत वेदधर्मकी बहुत पुस्तकोंमें (मनुस्मृति,योगसूत्र आदिमें) उल्लिखित हैं और जैन-धर्ममें भी ये माने गये हैं। इसका कारण यह है कि वे सब मूलमें एक ही हैं, किन्तु जैन शास्त्रकारोंने इनका जो ठीक ठीक और सूक्ष्म विवेचन किया है, वह देखने ही योग्य है। मन, वाणी और कायके कर्म, ऐसे तीन भेद इनमें रखे हैं,करना, कराना, और अनुमोदन करना। इस प्रकारसे उन भेदोंके और भी अवान्तर भेद किये गये हैं। ऐसा होनेसे हिंसा, झूठ, चोरी आदिके विचार मनमें लाना, अथवा कोई ऐसे विचार करता हो, उन्हें पसन्द करना, यह भी हमें पापका भागी बनाता है। इस बातकी ओर जैन पण्डितोंने हमारा अच्छी तरहसे ध्यान खींचा है।

इसके अलावा जैन-धर्ममें मन तथा इन्द्रियोंको धर्म-मार्गमें प्रेरित करनेवाली आवश्यक क्रियाओंमें स्वामीकी स्तुति-वन्दनाके साथ (१) सामायिक और (२) प्रतिक्रमण हैं।

(१) *सामायिक*—मनको समता सिखाना चाहिये। इस

संसारमें सब वस्तुएं हमें इच्छानुसार कैसे मिल सकती हैं। बाग है, ठण्ड भी होगी, जाड़ा भी होगा, गरमी भी, बगीचे भी होंगे और कांटे-झाड़ भी होंगे—संक्षेपमें सुख भी होगा और दुःख भी होगा, तथापि सुख दुःखमें मनको डांवाडोल न होने देकर उसे समताकी दशामें रखना चाहिये। प्राणिमात्रपर एकसा भाव रखना चाहिये। इसके लिये हर एक जैनको हमेशा दो घड़ी चित्तको स्थिर रखकर स्वाध्याय और ध्यान करनेकी आज्ञा है। यह 'सामायिक' अथवा समताके अनुशीलन करनेकी विधि है।

(२) ऐसी ही दूसरी आवश्यक क्रिया 'प्रतिक्रमण' है। इसका तात्पर्य यह है कि मनुष्यको अशुभ एवं पापसे पीछे फिरकर शुभकी ओर चलना चाहिये।

मनुष्य दिन-रातमें जाने अनजाने कुछ न कुछ पाप किये बिना नहीं रहता, लेकिन सांझ-सवेरे अपने पापोंका विचार कर, जो हो गया उसके लिये मनमें पश्चात्ताप कर, भविष्यमें यदि वह वैसा न करनेका निश्चय करे तो इससे उसका जीवन बहुत सुधर जायगा। इसलिये जैन शास्त्रकारोंने 'प्रतिक्रमण' अर्थात् पापोंको स्वीकार कर पुण्य-मार्गपर चलनेका विधान किया है। रात और दिनके विभागानुसार दो प्रतिक्रमण होते हैं। रातका सवेरे और दिनका सायंकालको प्रतिक्रमण किया जाना चाहिये।

[४३]

जैन बन्ध और मोक्ष

गुरुजी—बालको ! देखो, यह तालाब कैसा सुहावना मालूम होता है !

आनन्द—महाराज, बहुत सुहावना है, आज हम लोग यहीं बैठें !

गुरुजी—अब यहां बैठनेमें कोई हरकत नहीं। पहले इस जगह बहुत दुर्गन्ध आती थी, किन्तु राजाके हुकुमसे गांवका मैला पानी तालाबमें जानेसे रोक दिया गया है, क्योंकि उससे तालाब बिगड़ता था और रोग फैलता था। (सब तालाबके किनारे बैठे।)

गुरुजी—बालको, इस तालाबकी बातसे मुझे जैन-धर्मका एक सिद्धान्त याद आता है। उस सिद्धान्तकी संज्ञा आस्रव और संवर है। आत्मामें कर्मका बहाना यह आस्रवका सरल अर्थ है। जैसे गांवका मैला पानी नालोंमें होकर तालाबमें बहता है और उसे मैला कर डालता है, वैसे ही इस संसारके विषय इन्द्रिय आदि नालोंमें होकर आत्मामें प्रवेश करते हैं और आत्माको बिगाड़ देते हैं। एक दूसरा दृष्टान्त यह दिया जाता है कि जैसे भींगे वस्त्रपर धूल आ पड़ती है और उसे चिपट जाती है, वैसे ही क्रोध, अभिमान आदि दुष्ट वृत्तियोंसे लिप्त आत्माको इस संसारके कर्म चिपट जाते हैं। इन दुष्ट वृत्तियोंको कषाय (मैल) कहते हैं। कषाय चार प्रकारके हैं—क्रोध, अभिमान, माया (कपट) और लोभ।

आस्रवको अच्छी तरह रोक दे वह संवर है, अथवा आस्रव

अर्थात् प्रवाहका द्वार ही जो बन्द कर सके, उसे संवर कहते हैं। कर्मरूपी बन्धनोंसे मोक्ष पानेके लिये संवर करना अर्थात् आस्रवको रोकना चाहिये, किन्तु आस्रवके रोकने ही मात्रसे हमारे कर्त्तव्यकी इतिश्री नहीं हो जाती। नये कर्मोंके विषयमें आस्रवका करना उचित है, किन्तु पुराने कर्मोंका बीज नाश करनेके लिये संवरके साथ निर्जरा-की आवश्यकता है। निर्जरा अर्थात् उत्पन्न हुए कर्मोंका तप उप-वासादिक ज्ञानके साधनोंद्वारा छिन्न-भिन्न करना 'निर्जरा' है। ऐसा करनेसे अन्तमें संसाररूपी बन्धन नष्ट हो जाते हैं और हमें मुक्ति मिलती है।

---

[४४]

गौतमबुद्ध

गुरुजी—उस समय अज्ञानके कारण देवताओंकी भक्तिके नाम-पर पशुहिंसा बहुत बढ़ गयी थी। इसलिये उस अन्धश्रद्धाका नाश करनेके लिये और शुभ कर्मोंमें प्रवृत्ति करानेके लिये जैन तीर्थंकर महावीर स्वामीके ही समयमें—किन्तु उनसे कुछ पीछे छठीं शताब्दीमें बौद्ध-धर्मके—हिन्दूधर्मकी तीसरी शाखाके भगवान् गौतम बुद्ध हुए। उनके समयतक प्राचीन धर्ममें अनेक फेरफार हो चुके थे। एक ओर जन-समाजमें कहीं-कहीं ज्ञान, भक्ति और वैराग्यका उपदेश फैल रहा था, उसके साथ ही दूसरी ओर प्रजाके अधिक भागमें कर्मकाण्डके जाले भी बहुत पुरे हुए थे, और कवि, भक्त, ज्ञानी साधुओंके स्थान टीकाकार, वादविवादी, कर्मकाण्डी और मूर्ख

तपस्वियोंने ले लिये थे। ऐसे समयमें धर्मपरित्राणके महानियमका अनुसरण कर 'जब जब धर्मका नाश होता है और अधर्मका उदय होता है, तब तब धर्मका फिर उद्धार करनेके लिये मैं अवतार लेता हूं' इस गीतामें कहे हुए भगवानके वाक्यके अनुसार गौतमबुद्धका अवतार हुआ। "बुद्ध" अर्थात् बोध पाये हुए, जागे हुए ज्ञानीको कहते हैं। संसारमें अज्ञानी मनुष्य ही सोये हुए मानने चाहिये, और ज्ञानी लोग ही सचमुच जागे हुए समझने चाहिये। इसकारण उन्हें बुद्धका विशेषण देना यथार्थ ही है। जैसे ब्राह्मण-धर्ममें विष्णुके चौबीस अवतार और जैन-धर्मके चौबीस तीर्थंकर हैं, वैसे ही बुद्धधर्ममें चौवीस बुद्ध हैं। इन २४ बुद्धोंमें केवल गौतमबुद्धके जीवनचरित्रके विषयमें ऐतिहासिक प्रमाण मिलते हैं, जिनका वर्णन मैं तुम्हें कर सुनाता हूं। गङ्गाके उत्तर प्रदेशमें हिमालयकी दक्षिण तलेटीमें कपिलवस्तु नामका गांव था। वहां ई० सं० पूर्व छठे शतकमें शुद्धोधन नामका राजा राज करता था। उसके यहां रानीकी बड़ी अवस्थामें राजकुमारका जन्म हुआ। माता पिताकी पुत्रकी इच्छा सफल हुई—सिद्ध हुई—इसलिय उनका नाम सिद्धार्थ रखा। वे गौतम गोत्रके होनेके कारण गौतम कहलाये। और कालान्तरमें इस संसाररूपी अज्ञानकी निद्रामेंसे वे जागे, इसलिये बुद्ध, यह आदरणीय विशेषण उनके साथ प्रयोग किया गया। योग्य अवस्था होनेपर यशोधरा नामकी एक राजकन्यासे उन्होंने विवाह किया, और उससे राहुल नामका एक पुत्र उत्पन्न हुआ। जन्मसे तबसे २९-३० वर्षतकका उनका हाल हम नहीं जानते, लेकिन हम सहजहीमें अनुमान कर सकते हैं कि वह समय युवावस्थाके अनेक सुख भोगनेमें व्यतीत हुआ होगा।

परन्तु गौतमबुद्धकी आत्मामें पवित्र संस्कार थे, वे इन्द्रियोंके सुखमें लिप्त न हो सकते थे। लोग कहते हैं कि बालकपनमें ही उनके पितासे एक ज्योतिषीने कहा था कि यह कुमार आगे चलकर एक भारी संन्यासी होगा। राजाको यह भविष्यवाणी अच्छी न लगी, और इसकारण उसने संसारके सुखसे भरे हुए एक महलमें ही उनके बहुत कालतक रहनेका प्रबन्ध कर दिया। यह कहा जाता है कि एक दिन वे रथमें बैठकर बाहर फिरने निकले, वहां उन्होंने एक बड़े आदमीको जिसकी कमर झुक गयी थी, आंखें बैठ गई थीं, मुंहसे लार टपकती थी, चलनेमें ठोकर लगती थी, इत्यादि बुढ़ापेके अनेक दुःखोंसे दुःखी देखा।

राजकुमार, जिनका समय आजतक ऐश-आरामकी सामग्रीसे भरपूर एकान्त राजमहलमें बीता था, इन सब दृश्योंसे बहुत ही चकित हुए। जब उनके सारथीने उन्हें समझाया कि ये वस्तुएं—जरा, व्याधि और मरण—तो संसारमें बहुत साधारण हैं, तब उनके पवित्र मनमें तीव्र वैराग्य उत्पन्न हुआ; लेकिन उन्हें क्या करना चाहिये, यह न सूझता था। एक बार वे फिरने निकले, वहां उन्होंने सामान्य पोशाकसे एक जुदी ही तरहकी पोशाकवाला मनुष्य देखा, उसे देख उन्होंने सारथीसे पूछा, "यह किस तरहका मनुष्य है?" सारथीने उत्तर दिया कि यह संन्यासी है। राजकुमारने पूछा कि संन्यासी किसे कहते हैं। सारथीने कहा कि जो संसारको दुःख-रूप समझकर उसे छोड़ देता है, वह संन्यासी कहा जाता है। गौतमने यह सुन संसार छोड़कर चले जानेका विचार किया, और इसके साथ दुःखके निवारणका उपाय भी ढूंढ़ निकालनेका निश्चय

किया। रोजके रिवाजके अनुसार रात्रिके गान-तान हो चुकनेके पश्चात शयन-गृहमें गये, किन्तु निद्रा न आई। रानी यशोधरा और बालक राहुल सोये पड़े थे, वे उनके पास गये। बालकको उठाकर उससे मिलनेका मन हुआ, लेकिन रानीका एक हाथ बालकपर पड़ा था, उसे उठाकर यदि बालकको लेने जाय तो रानी जाग उठेगी, जाग उठनेपर फिर वह अपने प्यारे पतिको संसार कैसे छोड़ने देगी! न छोड़ने दे तो फिर क्या करना इत्यादि, इस प्रकारके अनेक विचार उनके मनमें आने लगे। अन्तमें सब संकल्प-विकल्प छोड़ अपने तथा असंख्य जीवोंके कल्याणके लिये सिद्धार्थ यशोधरा और राहुलको ज्योंका त्यों छोड़, महलसे एक सफेद घोड़ेपर सवार हो, चल दिये। यह बड़ी घटना—सिद्धार्थके जीवनकी एवं जगत्के इतिहासकी महत्वपूर्ण घटना—बौद्ध-धर्मके शास्त्रोंमें 'महाभिनिष्क्रमणके नामसे प्रसिद्ध है।

सिद्धार्थ रातों रात घोड़ेपर बहुत दूर निकल गये। एक नदीके किनारे वे घोड़ेपरसे उतरे, और तलवार निकाल उससे अपने हाथसे अपने सुन्दर केश काट डाले, तथा अपने आभरण और वस्त्र उतारकर घोड़ेवालेको दे दिये। उसे कपिलवस्तुकी तरफ वापिस भेज वे साधुके वेशमें आगे चले। थोड़े समयतक पासकी आमकी वाटिकामें रहकर मगधकी राजधानी, राजगृहकी ओर वे चल पड़े। वहांके राजाने उनका सम्मान किया और उनसे आचार्य पद स्वीकार करनेके लिये कहा, लेकिन उन्होंने इस पदके लिये अपनी योग्यता न मान रखी थी, इसकारण उसे स्वीकृत नहीं किया। फिर उन्होंने एक ब्राह्मणके पास तत्वज्ञानका अध्ययन किया, लेकिन उनके

सिद्धान्तोंसे सिद्धार्थको संतोष नहीं हुआ, इसलिये वे आगे चले। एक ठिकाने कितने ही ब्राह्मणोंको यज्ञमें पशुओंका होम करते हुए देखा, यह तो उनकी दयार्द्र आत्माको अतीव घृणित लगा। गया नामक ग्राममें जाकर उन्होंने तप आरम्भ किया। ६ बरसतक कठोर तपश्चर्या करनेसे उनका शरीर काष्ठवत् सूख गया और निर्बलता बढ़ गयी। एक समय वे पासकी नदीमें नहाने गये थे, वहां उन्हें पानीमेंसे उठना भी भारी हो गया। अन्तमें किनारेपरके वृक्षकी डाल पकड़ वे खड़े हुए और आश्रमकी ओर चले, किन्तु चल न सके। रास्तेमें वे बेसुध हो गिर पड़े। एक कन्या पास होकर जा रही थी, उसने उन्हें दूध पिलाया और आश्रममें पहुंचाया। इतना देह-कष्ट उठानेपर भी संसारके दुःखका निदान—वैद्य जिस भांति रोगका कारण खोज निकालता है उस तरह—और उस दुःखके निवारण करनेका उपाय उन्हें कुछ भी न सूझा। अत्यन्त भोग-विलाससे जैसे सत्य नहीं मिलता, वैसे ही अत्यन्त देहकष्ट सहन करनेपर भी वह नहीं सूझता। अन्तमें 'मध्यम प्रतिपदा' का सिद्धान्त अर्थात् बीचका मार्ग ही सर्वथा श्रेष्ठ है, यह उनकी समझमें आया। अबसे शरीरके पोषणार्थ कुछ अन्न लेने लगे, गई हुई शक्ति फिर आ गई। एक रात्रिके समय गयाके पास एक वृक्षके नीचे ध्यान करते वे बैठे हुए थे। आजतक जिस सत्यके खोजनेके लिये उन्होंने अनेक कष्ट सहे थे, उसका उनकी अन्तरात्मामें सहसा ज्वलन्त प्रकाश हुआ। उन्हें ज्ञान हुआ, वे जाग पड़े, वे बुद्ध हुए। इस समय उनकी उमर ३५ वर्षकी थी।

'मैं तो जागा, लेकिन जगत्‌को जगाऊं तभी मेरा कल्याण

होगा' इस प्रकार विचारकर वे उठे और काशीकी तरफ चल पड़े। जिन ब्राह्मणोंने पहले यह निश्चय किया था कि इस तपोभ्रष्ट साधुको प्रणाम न करेंगे, वे इस समय उनके ज्ञानके तेजसे खिंचकर सामने गये और उनका सत्कार किया। बुद्धभगवानने उन्हें 'चार आर्य-सत्योंका'—जो सत्य उस ध्यानकी रात्रिमेंएक एक पहरके बाद उन्हें प्रकाशित किये थे—उपदेश किया और तभीसे धर्मचक्र-प्रवर्तनका आरम्भ हुआ। पासके गांवमें बहुत लोग उनका उपदेश सुननेके लिये आने लगे। उनके शिष्योंकी संख्या बढ़ने लगी। तबसे ४५ वर्षतक बुद्ध भगवानने धर्मचक्र चलाया। वह धर्म-चक्र कालक्रमसे भारतके बाहर भी चला। ठेठ चीन, तिब्बत, मङ्गोलिया, जापान, मिश्र, काबुल, पैलेस्टाइन,लङ्का,ब्रह्मदेश, सुमात्रा, जावा आदि देशोंमें हिन्दू-धर्मकी यह बड़ी शाखा फैल गयी। बुद्ध भगवानने अनेक ब्राह्मणोंको, सच्चा ब्राह्मणपना क्या वस्तु है इसे बतलाकर अपने संघमें दाखिल किया। यही नहीं, बल्कि हज्जाम, अन्त्यज, गणिका आदि अधम और पापी गिने जानेवाले मनुष्योंको दयासे उन्होंने संघमें शामिल किया। उनमेंसे कितने ही तो बड़े उपदेशक बन गये। धर्म प्राप्त करनेमें कोई नीच ऊंच जातिका भेद उन्होंने नहीं माना।

विचारचन्द्र—गुरुजी, उन बेचारे यशोधरा और राहुलका क्या हुआ?

गुरुजी—क्या हुआ! सुनो, सुनो, ऐसे महापुरुषके कृत्यसे किसीकी हानि होती ही नहीं। यशोधरा और राहुल, जिन्हें सोये हुए छोड़कर बुद्धदेव गये थे, उन्हें फिर उन्होंने आकर जगाया—सच्चा तरहसे जगाया। वे भी भिक्षु-भिक्षुणीके संघमें शरीक हुए।

लड़के गौतमबुद्धके जीवनकी यह मनोहर वार्ता सुन बहुत प्रसन्न हुए। वार्ता लम्बी होनेसे आजके धर्मशिक्षणमें रोजसे कुछ ज्यादा समय लगा, परन्तु वह कहां गया यह न मालूम हुआ।

---

[४५]

गौतम बुद्धका मुख्य उपदेश

गुरुजी—बालको, गौतमबुद्धके उपदेशका सब सार उनके जीवनमें ही है, यह कहना बिल्कुल यथार्थ है। इसीलिये मैंने तुमसे उनके जीवनका यह हाल विस्तारपूर्वक कहा। तो भी उनके उपदेश-मेंसे कुछ चुने हुए सिद्धान्त, एकत्र किये हुए, तुम सावधान होकर सुनो। भगवान गौतमबुद्धने संसारमें जरा, व्याधि और मरण देखे। इनके आधारपर उनके अत्यन्त दयार्द्र हृदयमें यह एक बात चुभसी गई कि वस्तुमात्र क्षणिक हैं, और दुःखरूप हैं। अपने ऊपर दुःख पड़नेसे संसार दुःखमय है, इस प्रकारका बोध तो बहुत साधारण मनुष्योंको भी हो जाता है, किन्तु बुद्ध भगवानके बोधमें यह विशेषता थी कि उन्हें स्वयं दुःख भोगनेका प्रसंग नहीं हुआ था, बल्कि स्त्री-पुत्र, लक्ष्मी आदि संसारके सब सुख उन्हें पूर्णरूपसे प्राप्त थे, तथापि एकमात्र ऊंची दयामय वृत्तिसे उन्होंने स्वयं इस महान् सत्यका साक्षात्कार किया।

(२) संसार दुःखरूप है, यह जान लेना तो बहुत सरल है किन्तु दुःखका निदान ढूंढ़ निकालना और उसके निवारणके उपाय सोच निकालना, इनमें बुद्धिकी सूक्ष्मता और परोपकार वृत्तिकी

आवश्यकता पड़ती है। बुद्ध भगवानने सोचा कि दुःखके बाहरके उपचार व्यर्थ हैं, वैद्यकमें जिसे निदान अर्थात् खोज कहते हैं, उसे खोज निकालना चाहिये और फिर उसका उपाय करना चाहिये। रोगके निदान किये विना औषधि करना नीम-हकीमी है। इस प्रकार संसाररूपी रोगके इस महान् चिकित्सकने (वैद्यने) विचारकर यह निदान किया कि सारे दुःख जीवनकी तृष्णामेंसे उत्पन्न होते हैं। 'मैं जीऊं, मैं जीऊं चाहे जो हो, किसीको दुःख देकर भी जीऊं" यह जीवन-तृष्णा ही दुःखोंका मूल है। इसलिये अहन्ता अर्थात् आत्मवादका त्याग करना चाहिये और अनात्मवाद अर्थात् अहंभावके त्यागको ग्रहण करना चाहिये, यह बुद्ध भगवानने दूसरा सिद्धान्त स्थिर किया। सिद्धार्थने यह देखा था कि उस समय लोग आत्मवादका आश्रय लेकर बहुत ही स्वार्थपरायण हो गये थे। इस आत्म (अहं) के मोहसे मनुष्य संसारमें असंख्य पाप करते थे, इतना ही नहीं, बल्कि यज्ञमें अज्ञानके कारण देवता, वेद, धर्म और ईश्वरके नाम अगणित पशुओंका बलिदान देकर वे यही आशा किया करते थे कि मरनेके बाद हमारी आत्मा स्वर्गमें जायगी। अतएव अहन्ताके नाश होनेसे तृष्णा दूर होगी और तृष्णाके दूर होनेसे दुःखका नाश होगा, यही उन्होंने सिद्धान्त निश्चित किया।

(३) तृष्णा और तृष्णामेंसे उत्पन्न होनेवाले उपादान (रूप, रस, गन्ध आदि इन्द्रियोंके विषय ग्रहण करना) का नाश होनेसे पुनर्जन्मके और पुनर्जन्मके साथ जुड़े हुए जरा-मरण- व्याधि आदि दुःखोंका नाश हो जाता है—जिन दुखोंको उस दिन राजकुमारने

रास्तेमें आश्चर्य और शोकसे आकुलित होकर देखा था और जिनका उपाय ढूंढ़नेके लिये उन्होंने अभिनिष्क्रमण किया था।

(४) ऐसी दुःखरहित स्थितिका नाम निर्वाण है। निर्वाण अर्थात् बुझ जाना। मनुष्यके हृदयमें अहन्ता और राग-द्वेषकी जो वृत्तियां हैं, उनका बुझ जाना ही निर्वाण शब्दका अर्थ है। जिसको दर्द हो रहा हो, उसके दर्द मिटानेपर स्वास्थ्यकी दशा आती है।

ये चार सिद्धान्त ही 'चार आर्यसत्य' हैं, अर्थात् वे सत्य सज्जनोंके स्वीकार करनेयोग्य हैं।

इस निर्वाण-दशाके प्राप्त करनेका गौतमबुद्धने जो मार्ग खोज निकाला वह 'मध्यम प्रतिपदा' अथवा 'आर्य अष्टांग मार्ग' कहलाता है। गौतमबुद्धने अपने निजके अनुभवसे यह देखा था कि जैसे भोग-विलाससे सत्य दूर रहता है, वैसे अत्यन्त देहकष्टसे भी दूर रहता है। वस्तुतः सत्यका मार्ग दोनों छोरोंके बीचमें है, और इसकारण वह 'मध्यम प्रतिपदा' अर्थात् 'बीचका मार्ग' कहलाता है। यही आर्य लोगोंका मार्ग भी कहा जाता है।

ब्राह्मण-धर्मके योगसूत्र आदि अनेक ग्रन्थोंमें जिसे पञ्च यम कहते हैं, और जैन-धर्ममें जिसे पञ्चव्रत कहते हैं, उनसे बहुत कुछ मिलते-जुलते बौद्ध-धर्ममें पञ्चशील हैं। वे पञ्चशील निम्न-लिखित प्रकारके हैं:—

(१) प्राणातिपात (अर्थात् हिंसा) न करना।

(२) अदत्तादान (विना दी हुई वस्तु) न लेना अर्थात् चोरी न करना।

(३) मृषावाद (झूठ) न बोलना।

(४) मद्यपान न करना।

(५) ब्रह्मचर्य पालन करना।

जैसे अच्छे प्रकार छाये हुए मकानकी छतमेंसे वर्षाका पानी नहीं चू सकता, इसी प्रकार विवेकसम्पन्न मनपर विषयवासनाओंका कुछ भी असर नहीं पड़ सकता।

हे भिक्षुओ! बुराई करनेवाला इस लोकमें पश्चात्ताप करता है और परलोकमें भी पश्चात्ताप करता है, वह दोनों लोकोंमें पश्चात्ताप करता है। वह अपने गन्दे कामोंको देखकर पश्चात्ताप करता है और अत्यन्त कष्ट पाता है।

सदाचारी पुरुष इस लोकमें प्रसन्न रहता है और परलोकमें भी सुखी रहता है। वह दोनों लोकोंका आनन्द लेता है। जब वह अपने कर्मोंकी शुद्धताको देखता है तो बड़ा प्रसन्न और सुखी होता है।

सत्यधर्मका अनुयायी धर्मके बहुतसे श्लोकोंको तो कण्ठ नहीं करता, लेकिन वह काम, क्रोध और जड़ताको दूर कर सत्यज्ञान और मनकी शान्ति प्राप्त कर लेता है। जो इस लोक तथा पर-लोककी परवाह नहीं करता, निश्चय ही वह भिक्षुपदका सच्चा भागी है।

हे भिक्षुओ, सच्ची लगन अमरत्वके पथपर ले जाती है और प्रमादको मृत्युका मार्ग समझना चाहिये। वे, जिन्हें सच्ची धुन लगी है, कभी नहीं मरते हैं और जो प्रमादी हैं, वे मरे हुओंके समान ही हैं।

जो अप्रमादके मार्गमें अग्रसर हैं और जिन्होंने उसके तत्वको

महिमाको समझ लिया है, वे सच्ची लगनमें मस्त रहते हैं और प्राचीन आर्य्य लोगोंके ज्ञानामृतका सुख लाभ करते हैं।

भड़कीली वस्तुओंके पीछे मत भागिये और न विषय-भोगके पीछे ही अन्धे बनिये। जो अप्रमादी और चिन्ताशील है, उसे अपूर्व आनन्द मिलता है।

मन बहुत दूर भटकता रहता है, यह अकेला फिरता है, यह शरीररहित है और हृदयके अन्दर छिप जाता है। ऐसे मनको जो वशमें करता है वह शैतान राजाके जालसे मुक्त हो जाता है।

यदि मनुष्यके विचार अस्थिर हैं, यदि वह सत्यधर्मको नहीं समझता, यदि उसके मनकी शान्ति भंग हो गई है तो उसका ज्ञान कभी भी पूरा नहीं हो सकता।

सुमार्गमें लगा हुआ मन मनुष्यका जिस प्रकार भला करता है, उस प्रकार माता-पिता तथा दूसरे बन्धुवर्ग भी नहीं कर सकते।

अल्पबुद्धिके मूर्ख लोग खुद अपने बड़े कट्टर शत्रु हैं, क्योंकि वे कड़वे फल उत्पन्न करनेवाले कर्मोंको करते हैं।

जो ज्ञान-सागरमें डुबकी लगाता है, वह स्थिरचित्त होकर सुख-पूर्वक रहता है, आर्य्योंके बताए हुए धर्म-उपदेशोंपर चलनेसे मुनिको सदा परमानन्द मिलता है।

जैसे ठोस चट्टानोंको प्रचण्ड पवन हिला नहीं देती, वैसे ही निन्दा और स्तुति बुद्धिमानको विचलित नहीं कर सकती।

वे (सत्पुरुष) विषय-भोगकी तृप्तिका इच्छासे, चाहे कुछ भी हो जाय, अपने काममें बढ़े चले जाते हैं। बकवाद नहीं करते, चाहे

सुखमें हों चाहे दुःखमें, ज्ञानी पुरुष न तो कभी गर्वमें ही आते हैं और न विषाद ही करते हैं।

संसारमें ऐसे बहुत कम पुरुष हैं जो भवसागर पार कर अर्हत (पूर्ण ज्ञानी) पदको प्राप्त करते हैं, अधिकांश लोग इस संसार-सागरके किनारे इधर उधर भटकते रहते हैं।

लेकिन वे, जिन्होंने धर्मके रहस्यको समझ लिया है, उसके अनुसार चलते हैं। वे यमराजके दुस्तर राज्यको भी पार कर जाते हैं।

देवता भी उनके साथ स्पर्द्धा करते हैं, जिनकी इन्द्रियां अच्छे प्रकार सधे हुए घोड़ेकी तरह उसके वशमें हैं, जो अभिमानसे परे है और जो वासनाओंसे मुक्त है।

झोंपड़ीमें चाहे जंगलमें, समुद्रमें चाहे सूखी जमीनपर, जहां जहां मुक्त पुरुष निवास करता है, वही स्थान आनन्ददायक हो जाता है।

जंगल सुखद बन जाते हैं, जहां सांसारिक मनुष्योंको कुछ भी आमोद-प्रमोद नहीं मिलता, वहां निर्विकारी पुरुषको आनन्द मिलता है, क्योंकि उसे बाह्य सुखकी तलाश नहीं है।

दूसरे मनुष्योंको जीतनेकी अपेक्षा अपने ऊपर विजय प्राप्त करना श्रेष्ठतर है। देवता, गन्धर्व, शैतान, यदि उन्हें ब्राह्मणकी भी सहायता मिले तो भी वे आत्मविजयी और संयमी पुरुषकी विजय-का पराजयमें नहीं बदल सकते।

यदि कोई पुरुष जंगलमें निवास कर एक सौ वर्षतक अग्निकी

पूजा करता है. और यदि वह केवल एक क्षणके लिये भी किसी स्थितिप्रज्ञ महात्माको अभिवादन करता है तो उसका वह अभिवादन उस सौ वर्षकी पूजाकी अपेक्षा श्रेष्ठतर है।

जो वृद्ध पुरुषोंको सदा नमस्कार करता है और उनका निरन्तर आदर करता है, उसके चार पदार्थों; अर्थात् आयु, सुन्दरता, सुख और बल, की वृद्धि होती है।

यदि मनुष्य किसी निर्दोष, सदाचारी और बेगुनाह पुरुषको सताता है तो उसका वह बुरा कर्म लौटकर उसीको सताता है, जैसे प्रचण्ड पवनकी तरफ धूल फेंकनेसे धूल फेंकनेवालेके ऊपर पड़ती है।

कुछ आदमी आवागमनके चक्करमें रहते हैं, पापी नरकको जाते हैं, धर्मात्मा स्वर्गको जाते हैं, जो सब सांसारिक इच्छाओंसे मुक्त हैं, वे निर्वाणपदको प्राप्त करते हैं।

जो स्वयं अपना स्वामी है, उसका दूसरा कौन स्वामी बन सकता है? खुदीको भली प्रकार जीत लेनेसे मनुष्यको इस दुर्लभ स्वामीके दर्शन हो सकते हैं।

बुरे तथा हानिकारक कर्म करने बड़े आसान हैं। जो शुभकर्म लाभदायक हैं, उनका करना मुश्किल है।

मनुष्य स्वयं ही बुराईके बीज बोता है और स्वयं ही उसका फल भोगता है, मनुष्य खुद ही बुराईका त्याग करनेवाला है और स्वयं ही अपनी शुद्धि करनेवाला है। साधुता और दुष्टता मनुष्यके अपने हाथमें हैं, कोई दूसरेको शुद्ध नहीं कर सकता।

जो पहले विवेकशून्य रहा हो और बादमें विचारशील हो जाय तो वह मेघोंसे मुक्त चांदकी तरह जगत्‌को प्रकाशित करता है।

मनुष्य जन्म पाना दुर्लभ है । मनुष्यका जीवन दुर्लभ है। सत्यधर्मका सुनना दुर्लभ है, बुद्धका जन्म तथा बुद्धत्व-पदकी प्राप्ति दुर्लभ है ।

न निन्दा करना, न मारना, धर्मके अनुसार जितेन्द्रिय रहना, खानेमें मिताहारी होना, एकान्तमें बैठना, सोना और उच्च विचारोंका चिन्तन करना—यह बुद्धोंका उपदेश है।

सोनेके सिक्कोंकी वर्षा भी हो जाय तो भी तृष्णा शान्त नहीं होती। जो जानता है कि तृष्णाका मजा क्षणिक है,और दुखदायी है, वही बुद्धिमान है, उसे स्वर्गीय सुखोंमें भी कोई सन्तोष नहीं होता। जो शिष्य पूर्ण जागृत अवस्थामें है, वह सब तृष्णाओंके नाश करनेमें आनन्द मानता है ।

जिसमें सद्गुण और बुद्धि है,जो न्यायशील है,सत्यवक्ता है,और जो अपना कर्त्तव्य पालन करता है, ऐसा पुरुष विश्वका प्यारा होगा।

मनुष्य क्रोधको प्रेमसे वशमें करे, बुराईको भलाईसे जीते,लोभीको उदारतासे वशमें करे, और झूठको सचाईसे स्वाधीन करे।

सत्य बोलिये, क्रोधको न आने दीजिए, यदि कोई थोड़ी वस्तुके लिये याचना करे तो उसे दे दीजिये, इन्हीं तीन सीढ़ियोंसे आपको देवताओंका धाम प्राप्त हो सकता है ।

वे धर्मात्मा पुरुष जो दूसरोंको हानि नहीं पहुंचाते हैं और जो सदा अपने शरीरको वशमें रखते हैं, वे अविनाशी निर्वाणपदको प्राप्त करते हैं, जहां पहुंचनेसे सब प्रकारके शोक-मोहकी निवृत्ति हो जाती है ।

जो सदा जागृत रहते हैं, जो दिन-रात अध्ययनमें लगे रहते हैं,

और जो निर्वाणके लिये यत्न करते हैं, उनकी विषयवासनाएं समाप्त हो जायंगी।

शारीरिक क्रोधसे सावधान रहो, और अपने शरीरको वशमें रखो! शरीरके दोषोंका त्याग करो और अपने शरीरसे सद्गुणी जीवन व्यतीत करो।

मानसिक क्रोधसे सावधान रहो, अपनेको काबूमें रखो। मानसिक दोषोंको दूर करो, और मनसे शुद्ध जीवन व्यतीत करो।

जो ज्ञानी पुरुष इस प्रकार अपने मनको वशमें रखता है, वही बड़ा जितेन्द्रिय, संयमी और यती पुरुष है।

जैसे सुनार सोने चान्दीके मैलका समय समयपर थोड़ा थोड़ा करके दूर करता रहता है, बुद्धिमानको इसी प्रकार अपने हृदयकी मलीनताको धीरे धीरे समय समयपर थोड़ा थोड़ा करके दूर करते रहना चाहिए।

लोहेसे जो जङ्ग उत्पन्न होता है, जब वह लोहेपर चढ़ता है, तब लोहेको खा जाता है, इसी प्रकार समय-मार्गका उल्लंघन करनेवालेका अपना काम ही उसकी दुर्गति करता है।

अभ्यास (नित्यप्रति साधना) न करना, यह साधनाका कलङ्क है, मकानका कलङ्क उसकी मरम्मत न करना है, शरीरका कलङ्क आलस्य है। और चौकीदारका कलङ्क असावधानी है।

काषाय वस्त्र पहिननेवालोंमें बहुतसे पापिष्ट और असंयमी होते हैं, इस प्रकारके पापी पुरुष अपने पापकर्मसे नरकमें जाते हैं।

शरीरका संयम हितकारी है; वाणीका संयम मंगलकारी है, विचारोंका संयम सुखकारी है, सब वस्तुओंमें संयम कल्याण-कारी है। जो भिक्षु सब वस्तुओंमें संयम रखता है, वह सब प्रकारके दुःखोंसे छूट जाता है।

भिक्षु उसे कहते हैं जो अपने हाथ पांव और वाणीको वशमें रखता है, जो भली प्रकार संयमी है, जो स्थिरचित्त है और जो एकान्तसेवी तथा संतोषी है।

जो भिक्षु अपने मुख (वाणी) को वशमें रखता है, जो बुद्धि-मत्ता तथा शान्तिसे बोलता है, जो धर्म और उसके अर्थकी शिक्षा देता है, उसके वचन मीठे होते हैं।

जो धर्मके अनुसार चलता है, धर्ममें आनन्द मानता है, धर्मका मनन करता है,धर्मके अनुसार चलता है, वह भिक्षु धर्मसे कभी नहीं हटेगा।

---

[४६]

मृत्युका राज्य

रमाकान्त—गुरुजी, आपने कल बौद्ध-धर्मके सिद्धान्त बतलाये, उनमें 'वस्तु मात्र क्षणिक और दुःखरूप है" यह सिद्धान्त सबका आधार है न ?

गुरुजी—हां, गौतम बुद्धके जीवन-चरित्रका हाल जो मैंने तुमसे कहा था, उसे देखते हुए तुम्हारा कथन उचित प्रतीत होता है। वे राजमहलोंमेंसे बाहर फिरने निकले थे, रास्तेमें वह बूढ़ा, वह जलोदर रोगी और मुर्दा, और उसके पीछे होता हुआ रुदन तथा हाहाकार, इनको उन्होंने देखा था। तभीसे उनके दयालु हृदयपर 'जीवन क्षणिक और दुःखरूप है' इस बातका बड़ा असर पड़ा था और इसका प्रतीकार ढूंढ़ निकालनेके लिये ही वे बाहर निकल पड़े थे।

विचारचन्द्र—लेकिन गुरुजी, उन्होंने प्रतिकार तो ढूंढ़ नहीं निकाला।

गुरुजी—ढूंढ़ तो निकाला—आर्य मार्गकी तो गवेषणा की, लेकिन मैं तुम्हारे कहनेका भावार्थ समझता हूं। तुम्हारा कथन इस प्रकार है कि यदि मृत्यु मिटा दी होती और रोग शान्त हो जाते तो सचमुच भला किया; यह कहा जाता। क्यों यह बात ठीक न?

विचारचन्द्र—(कुछ हंसकर) हां, महाराज।

गुरुजी—तो सुनो। गौतमबुद्ध और किसा गौतमी नामकी स्त्रीका जो आपसमें संवाद हुआ उसे मैं कहता हूं। किसा गौतमी नामकी एक युवती थी। उसके एक सुन्दर बालक था। वह खूब हँसता फिरता और खेलता था। इतनेमें वह एक रात्रिको अचानक बीमार हुआ और सुबह ही बेचारा मृत्युके मुखका ग्रास बन गया। माता इस घटनासे पागलसी हो गयी और कोई उसे ओषधि देकर फिर जीवित करे, इस आशासे बालकके शवको हाथमें लेकर वह शहर शहर भटकने लगी। रास्तेमें एक बौद्ध भिक्षु मिला, उससे बड़ी विनयसे उसने कहा—"भगवन! मेरे बालकको कुछ ओषधि दो और जीवित करो।" भिक्षुने कहा—"बहिन, इसकी ओषधि मेरे पास नहीं, पर मेरे एक गुरु गौतमबुद्ध हैं, उनके पास जा, तो वे कुछ बतलायेंगे।" किसा गौतमी बड़ी ही आशाके उल्लासमें उसी तरहसे उस बालकको लेकर गौतमबुद्धके पास गई और कहा—"भगवन्! आप समर्थ हैं, मेरे बालकको कुछ ओषधि देकर जीवित कीजिये।" गौतमबुद्धने कहा—"बहिन! इस बालकको यहां सुला दे और मैं

कहूं वैसी कुछ राई ले आ, तो तेरा बालक मैं जीवित कर दूंगा।" यह उत्तर सुन किसा गौतमी प्रसन्न हुई और पहलेसे भी अधिक आशासे ज्योंही वह राई लेने दौड़ना चाहती थी त्यों ही भगवान बुद्धने उसे क्षणभर खड़ा रखकर कहा—"वहिन, ऐसे मंगलकार्य्यके लिये शुभस्थानसे राई लाना चाहिये, इसलिये ऐसे घरसे राई लाओ जिस घरमें कोई सगा-प्यारा कभी न मरा हो।" वह युवती पुत्रके उस शवका विरह भी सहन न कर सकती थी, और मानो अभी पुत्र जीवित ही है, इस प्रकार उससे आलिंगन करती, उसे हाथमें लेकर गांवमें राई लेने—बुद्ध भगवानने कहा था वैसी राई लेने—गई। एक घरमें गई, वहां घरवालेने कहा—"वहिन, राई तो है, चाहे जितनी लो, किन्तु तू कहती है वैसी नहीं; मेरे घरमें महीनाभर हुआ जब एक जवान पुत्र मर गया है, इस कारण लाचार हूं।" किसा गौतमी दूसरे घर गई, तीसरे घर गई, इस प्रकार सैंकड़ों घर भटकी। किसी ठिकाने बाप तो किसी जगह मां, किसी जगह भाई तो किसी ठिकाने बहिन, कहीं पति तो कहीं पत्नी, कहीं बालक तो कहीं, लड़की, कहीं मित्र तो कहीं नौकर, इस प्रकार जहां जहां खोजती थी वहां कोई न कोई तो मरा हुआ बतलाया ही गया। किसा गौतमीने गौतमबुद्धके पास आकर सब कथा कह सुनायी। गौतमबुद्धने इस अनुभवका यह मर्मरूप सिद्धान्त किसा गौतमीको समझाया कि स्नेही-सम्बन्धीका मरण-रहित कोई घर नहीं, जो जन्म लेगा वह अवश्य मरेगा, और पदार्थमात्र नाशवान है—किसा गौतमी संसार छोड़ भिक्षुणी हो गई।

विचारचन्द्र—तो गुरुजी, इसका अर्थ तो है यह कि मृत्युका कोई इलाज ही नहीं।

गुरुजी—है ही नहीं। जो वस्तु जैसी है उसे वैसी ही जानना यथार्थ ज्ञान है। इलाज चाहे हो सके वा न हो सके, किन्तु वैद्यको पहले तो जो वस्तु स्थिति हो, उसका निर्णय करना चाहिये। गौतमबुद्धने इसी बातका निर्णय किया। तुम कहोगे कि मृत्युका इलाज नहीं, इस बातको कौन नहीं जानता? सभी जानते हैं, पर जानकर जैसा व्यवहार करना चाहिये, वैसा व्यवहार करनेपर ही ठीक ठीक जाना जाता है। गौतमबुद्धने यह बात एक निश्चित सिद्धान्तरूपसे जानने और उसके अनुसार व्यवहार करनेका उपदेश किया था, किन्तु वस्तुतः गौतमबुद्धने इतना नहीं किया। उन्होंने मृत्युकी ओषधि भी खोज निकाली है, और वह यह है कि संसारमें तृष्णा—विषयतृष्णा—से ही रोग बढ़ता है और मृत्यु होती है, 'मैं जीऊं, किसीको हानि पहुंचाकर भी जीऊं और सुख भोगूं' ऐसी हमारी मूर्खताभरी तृष्णा है जो विषयरूपी पानी पीनेसे बढ़ती है। इसलिये उसे न पीकर ज्ञानरूपी अमृतसे वह तृष्णा शान्त करनी चाहिये, जिससे संसारचक्रका आवागमन छूटकर परम शान्ति और सुख मिले। उस दशाको निर्वाण कहो, कैवल्य कहो, वा मोक्ष कहो, एक ही बात है।

——

[४७]

अविरोध

लड़कोंने जैनधर्म और बौद्धधर्ममें ब्राह्मण-धर्मसे मिलती-जुलती अनेक बातें देखी। सबके मनमें यही हुआ कि तीनों एकसे ही धर्म हैं। गुरुजीने भी यह बात बहुत बार कही थी। तथापि इस

सम्बन्धमें गुरुजीसे प्रश्न करनेसे कुछ विशेष बातें मालूम होंगी, इस लक्ष्यसे एक विद्यार्थीने इस विषयकी चर्चा छेड़ी।

सुमन्त—गुरुजी, आपने कहा था कि जैनधर्मके अनुसार जगत्‌का कोई कर्त्ता (ईश्वर) नहीं, और सब कुछ कर्मानुसार होता रहता है, किन्तु ऐसा सिद्धान्त तो आपने वेदधर्मके षट् दर्शनोंमें भी बतलाया था।

गुरुजी—ठीक।

चंद्रमौली—और, महाराज, तप और वैराग्यका उपदेश भी इस धर्ममें है।

गुरुजी—है ही।

कान्तिलाल—स्याद्वाद जैसा भी कुछ है न?

गुरुजी—यह भी है।

विचारचंद्र—अहिंसा?

गुरुजी—इस प्रसंगमें कुछ विस्तारपूर्वक उत्तर देना उचित है। मूल वेद-धर्ममें कितने ही यज्ञोंमें पशुहिंसा होती थी और कितने ही सादे दूध-घीके यज्ञ होते थे। जो पशुहिंसा होती थी वह भी बहुत स्थानोंसे धीरे धीरे जाती रही और पशुके बदले व्रीहि (एक प्रकारके अन्न) का बलिदान दिया जाने लगा, फिर आटेका पशु बनाकर उसे होम करनेका रिवाज शुरू हो गया। ज्ञानी पुरुषोंने पशुहिंसाका कुछ विलक्षण अर्थ कर यज्ञमेंसे पशुहिंसा बिलकुल ही निकाल डाली। उनके विचारानुसार हमारे हृदयका अहङ्कार ही पशुरूप है और इसे ईश्वरको समर्पण कर उसके यज्ञमें इसका बलिदान कर देना चाहिये। भागवत-धर्मने, जो वेद-धर्मकी शाखा

है, हिंसात्मक यज्ञका बहुत ही निषेध किया है। श्री मद्भागवतमें नारद मुनि राजा प्राचीनबर्हिसे कहते हैं—"हे प्रजापालक राजा! यज्ञमें तुमने निर्दयी हो हजारों पशुओंको मारा है, वे तुम्हारी क्रूरता याद करते हुए परलोकमें तुम्हारी बाट देख रहे हैं। वे कुपित हैं कि ज्यों ही तुम यहांसे परलोकमें जाओगे, त्यों ही वे तुम्हें लोहेके शस्त्रोंसे काटनेको तैयार हो जायंगे।" इसमेंसे दो बातें सिद्ध होती हैं। कोई कहे कि वेद-धर्ममें पशुहिंसा होती ही न थी तो यह कहना असत्य है, और उसके साथ यह भी स्पष्ट है कि वेद-धर्मकी ही शाखाओंमें पशुहिंसा बन्द करनेका उपदेश बहुत प्रकारसे हुआ है। इस बातमें कोई आश्चर्य भी नहीं। हिन्दूधर्मके तीनों सम्प्रदाय—ब्राह्मण, जैन और बौद्ध—एक ही जातिमें एक ही प्रकारके जीवनमेंसे उत्पन्न हुए हैं, और एक ही महावृक्षकी शाखाएं हैं।

इसकारण अमुक सिद्धान्त केवल एक ही धर्मका हो यह संभव नहीं, किन्तु इससे यह न समझना चाहिये कि जैनधर्मका इस देशपर कुछ उपकार ही नहीं। सब सिद्धान्तोंमें अहिंसाके सिद्धान्तको परम आदरणीय बनानेका गौरव जैन लोगोंको ही प्राप्त है। यों तो 'अहिंसा परमोधर्मः' का सिद्धान्त हिन्दूधर्मके सभी पुराणों और नये सम्प्रदायों, यथा ब्राह्मण, बौद्ध, जैन, सिक्ख आदिको समान रूपसे मान्य है, किन्तु जैन शास्त्रकारोंने विशेष प्रकारसे अहिंसापर विचार करके निर्णय किया है। जिन जिन व्यवसाय और कामोंमें ज्ञात और अज्ञात दशामें जो अनेक प्रकारसे सूक्ष्मसे सूक्ष्म हिंसा होती हो, उसपर भी अति सूक्ष्म विचार करते हुए मनुष्यको दूर हटनेका उपदेश उन्होंने दिया है, किन्तु गृहस्थके

लिये तदनुकूल चलना कठिन है, इसका पूरा पालन तो साधु यति लोग ही कर सकते हैं।

दूसरी ओर हिन्दुओंकी ब्राह्मणादि शाखाओंके धर्मग्रन्थोंमें देश-काल, वर्णाश्रम, धर्माधर्म, न्याय-नीतिकी सम्पूर्ण परिस्थितिको ध्यानमें रखते हुए दूसरी प्रकारसे अहिंसादिके गूढ़ तत्त्वोंपर सूक्ष्मसे सूक्ष्म विचार किया है। साथ ही ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी तथा संन्यासीके लिये जैन-धर्मके सदृश सब प्रकारसे सूक्ष्माति अहिंसाव्रत पालन करनेकी इन शास्त्रोंने भी आज्ञा दी है। इस प्रकार ब्राह्मण शाखाके ग्रन्थोंमें न्यायनीतिको ही प्रधानता देकर निष्काम यानी आसक्तिरहित बुद्धिसे कर्त्तव्य कर्म करनेको मुख्य माना है। अतएव गृहस्थाश्रमोके लिये न्याय और धर्म-पालनके निमित्त अहिंसा-विरोधी युद्धादि कर्मोंको भी आवश्यकता पड़नेपर उन्होंने बुरा नहीं माना है। वास्तवमें सर्वसाधारणके लिये ज्ञानियोंकी सहायता बिना कर्मके गूढ़ तत्वोंका सूक्ष्म मर्म समझना कठिन है। इसलिये गीताके श्लोक विचारार्थ नीचे दिये जाते हैं।

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।

तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥

गीता अ० ४ श्लो० १६

(अर्थ)—वस्तुतः कर्म्म क्या है और अकर्म्म क्या है, इसका विचार करनेमें विद्वान् भी घबरा जाते हैं, इसलिये कर्म्म क्या है, यह मैं तुमको बताता हूं। इसके जाननेसे तुम दुःखोंसे छुटकारा पा जाओगे।

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः ।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥
गीता अ० ४ श्लो० १७

(अर्थ)—कर्म्म भी जानना चाहिये, विकर्म्म अर्थात् शास्त्र-विरुद्ध कर्म्म किसे कहते हैं यह भी जानना चाहिये, और अकर्म्म अर्थात् कर्म्मसे मुक्त कैसे रहा जाता है यह भी जानना चाहिये। कर्म्मकी गति अत्यन्त गहन—गंभीर है।

रामनाथ—गुरुजी, आपने कहा था कि गौतमबुद्ध एक महान् अवताररूप पुरुष हुए थे, और तत्पश्चात् आपने उनके जीवन और उपदेशका जो वर्णन किया उसे देखते हुए भी ऐसा ही ज्ञात होता है। तब लोकमें यह क्यों कहा जाता है कि बुद्धावतार तो भगवानने असुरोंको भ्रममें डालनेके लिये लिया था ?

गुरुजी—भगवान ऐसा कभी न करेंगे। भगवान धर्मकी रक्षाके लिये अवतार लेते हैं, किसीको भ्रममें डालनेके लिये नहीं लेते। उनके उपदेशमें कितनी ही भ्रान्तियां उत्पन्न हुई हैं यह बात ठीक है, जैसे वेद तुच्छ हैं, ईश्वर नहीं, आत्मा नहीं, सब शून्य है, इत्यादि। जो इन भ्रान्तियोंमें पड़े उन्हें ब्राह्मण शास्त्रकारोंने असुर कहकर पुकारा, और उन्हें भ्रममें डालनेके लिये भगवानने बुद्धावतार लिया, यह मान लिया। किन्तु यह सब बातें गौतमबुद्धके सच्चे उपदेशको न समझनेवालों पर ही लागू होती हैं। बौद्धधर्म तो एक प्रकारसे वेदोंसे निकले हुए षट् दर्शनोंमेंसे कपिलमुनिकृत सांख्य-दर्शनकी शाखा है। सच तो यह है कि गौतमबुद्धने वेदकी निन्दा नहीं की, किन्तु यह बतलाया कि ब्राह्मणोंको क्या

जानना चाहिये और कैसा होना चाहिये। किन्तु यदि इतनी बातसे वेदकी निन्दा होती हो तो—

कहा भयो तप तीरथ कीन्हें। माला गहि हरि नामहि लीन्हें ॥
तुलसी तिलक धरे का होवे। सुरसरि पान करे का ह्वेवे ॥
कहा भयो निगमागम बांचे। रागरंगके तत्त्वहिं जांचे ॥
कहा भयो षट् दर्शन जाने। वरण भेद उपभेदहिं माने ॥

ऐसे पद किस हिन्दी-साहित्यमें नहीं हैं? स्वयं कृष्ण भगवानने भी गीतामें वेदके अर्थपर सरपच्ची करनेवालोंकी क्या निन्दा नहीं की? इसके अतिरिक्त 'ईश्वर नहीं' यह गौतमबुद्धने कभी नहीं कहा, किन्तु यह कहा है कि ईश्वरके अन्वेषणमें लगे हुए लोगोंको जो कर्त्तव्य कर्म करना उचित है वह वे नहीं करते। इस कारण ही ईश्वरके विषयकी चर्चा उन्होंने निरर्थक बतलाई है। उनका कहना है कि एक मनुष्यको बाण लगा हो तो वह शस्त्र-वैद्यके पास जाकर उसे निकलवाता है अथवा पहले यह विचार करने बैठता है कि अच्छा, इस बाणका मारनेवाला कौन है, यह बाण किस चीजका बना है; इत्यादि? इस प्रकार जगत् नित्य है वा अनित्य, इसका कर्त्ता है वा नहीं, है तो कैसा है, इत्यादि प्रश्नोंपर धार्मिक जीवनका आधार नहीं। अब विचार करनेपर हमें ये प्रश्न निरर्थक नहीं मालूम होते, किन्तु जब लोग अपने सच्चे कर्त्तव्यको भूल जाते हैं और ऐसे प्रश्नोंके वादविवादमें पड़े रहते हैं, तब गौतमबुद्धने जैसा कहा था वैसा कोई कहे तो क्या बुराई है? यह तो सभी मानेंगे कि तारोंकी खोजमें भटकते हुए पैरोंतले कुआ आ जाता है, इसे भूल जाना तो बहुत ही बुरा है। इसके

अनुसार जैन ... र्य कर्मकी महिमा बताने ... । बुद्ध भग-वानसे कहा हुआ माना जाता है ७७ ... यकी जवाब-दारीके दूर करनेका नहीं, किन्तु संसारके मोह नष्ट करनेका है।

हिन्दूधर्ममें स्वार्थी और मूर्खोंके कारण परस्पर साम्प्रदायिक द्वेषभाव हो जानेसे जैसे शिव, विष्णुकी निन्दाके प्रकरण आ घुसे हैं इसी तरह बौद्ध, जैन और ब्राह्मण-धर्मोंमें परस्पर निन्दाकी बातें आ गई हैं। उचित दृष्टिसे देखते हुए, ये बातें हमारे धर्मोद्यानके सुन्दर फल-पुष्प नहीं, किन्तु उस उद्यानके बिगाड़नेवाले कांटे हैं। इसलिये इन बातोंकी सर्वथा उपेक्षा करनी चाहिये; क्योंकि अज्ञानसे धर्मके मर्मको न समझनेके कारण ही साम्प्रदायिक द्वेष फैलकर हिन्दू-जाति इस समय सब प्रकारसे क्षीण हो रही है। यदि हम अपने धर्म—आर्यधर्म—के सच्चे तत्वोंको समझने लग जायं तो फिरसे प्राचीन समयकी भांति यह हिन्दू-जाति संसारमें शिरोमणि बन सकती है। किन्तु ऐसी योग्यता प्राप्त करनेके लिये उन बुरी रूढ़ियोंकी दासता, जिनका धर्म और न्यायसे कोई सम्बन्ध नहीं है, त्यागकर हिन्दूमात्रमें सब प्रकारसे ज्ञान-विज्ञानकी वृद्धि करते हुए और परस्परका प्रेम बढ़ाते हुए हिन्दू जातीय संगठन बनानेकी आवश्यकता है। और मनुष्यमात्रमें भी इस पवित्र हिन्दूधर्मका ज्ञान फैलानेकी आवश्यकता है। प्रत्येक हिन्दू सन्तानका धर्म-प्रचार करनेका यह पवित्र कर्त्तव्य है, क्योंकि इस ज्ञानरूपी अमृतका दान करनेपर मनुष्यमात्रकी भलाई हो सकती है, किन्तु यह काम तभी हो सकता है जब हम हिन्दू लोग अपने

आपको इसके योग्य बना लें। देशमें जितना शीघ्र विद्या और धर्मका प्रचार होगा उतना ही शीघ्र हमलोग योग्य बन सकेंगे।

इस पुस्तकके पढ़नेसे, जिसमें साधारण बुद्धिके मनुष्यों और बालकोंके समझनेयोग्य ही धर्मके स्थूल स्थूल तत्व समझाये गये हैं, पता लगता है कि एक हमारा ही आर्यधर्म ऐसा धर्म है जो सर्वथा विज्ञानके सिद्धान्तोंपर ही आधार रखता है। हमारे प्राचीन ऋषियोंने धर्मकी सचाईको अनुभव और तर्ककी कसौटीसे जांचा है। जहांतक मनुष्यकी बुद्धिकी पहुंच हो सकती है वहांतक हमारे अवतारों और महापुरुषोंने आध्यात्मिक तत्वोंका अन्वेषण किया है।

वेद, उपनिषद्, और श्रीमद्भगवद्गीता आदि ग्रन्थोंके पढ़नेसे यही पता लगता है कि हमारे महापुरुषोंने अध्यात्म सत्यको किस चरम सीमातक पहुंचा दिया है।

अन्य जितने अनार्य ईसाई और मुसलमान आदि मत हैं, वे दो सहस्र वर्षोंके भीतरके ही बने हुए हैं, कुरान, बाईबलमें ऐसी अनेक बातें बतलाई गई हैं जो तर्क और बुद्धिसे सिद्ध ही नहीं हो सकतीं, जैसे उन मतोंमें पुनर्जन्मको नहीं मानना, जब एक बार मनुष्य मर जाता है तो वह प्रलयतक कब्रमें पड़ा रहता है, एक दिन प्रलय होनेपर सब मुर्दे एक बार ही उठकर खुदाके सामने अपने शुभाशुभ कर्मोंका फल भोगनेके लिये खड़े होंगे, इत्यादि ऐसी ऐसी अनेक बातें हैं। इन सब बातोंका वर्णन इस पुस्तकमें नहीं किया गया है।

❀ समाप्त